

THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

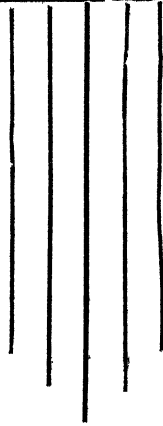
This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.

जैनागमों में परमात्मवाद



लेखक—

जैनधर्मदिवाकर, साहित्यरत्न, जैनागमरत्नाकर,
आचार्यसम्राट् परम श्रद्धेय

पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज

८०८९०

प्रकाशक—

आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशनालय

जैनस्थानक, लुधियाना ।

प्राप्तिस्थान—
आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशनालय,
जैनस्थानक, लुधियाना

प्रथम प्रवेश

वीरसम्बत्	.	२४८६
वि० स०	...	२०१६
मूल्य	...	आठ आना

029086

परिग्रहण नम्बर ...
ज्ञानरक्षक पत्रालय
तिब्बती संस्थान कार्यालय

मुद्रक—
राईज आर्ट इलेक्ट्रिक प्रेस,
गली लालूमल, लुधियाना ।

ध न्य वा द

“जैनागमो मे परमात्मवाद” के प्रकाशन मे समस्त व्यय करने की उदारता श्रीमती गौरा देवी जी कर रही है। माता श्री गौरा देवी जी यह प्रकाशन अपने पूज्य पतिदेव—

स्वर्गीय लाला नौहरियामल जी जैन

की पुण्यस्मृति मे करवा रही है। लाला नौहरियामल जी धार्मिक विचारो के व्यक्ति थे। लाला जी को यह धार्मिक भावना जैनधर्मदिवाकर, आचार्यसम्राट्, पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज जी के सुशिष्य युगस्रष्टा श्रद्धेय श्री स्वामी खजानचन्द्र जी महाराज के परमानुग्रह से प्राप्त हुई थी। श्रद्धेय महाराज जी की कृपा से ही लाला जी को जैनधर्म की उपलब्धि हुई थी। उन्ही की कृपा से लाला जी सामाजिक, नित्यनियम का सदा ध्यान रखा करते थे। धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक कार्यों मे अपने धन का सदा उपयोग करते रहते थे। श्री रामप्रसाद जी, श्री गोवर्धनदास जी, श्री केदारनाथ जी, लाला जी के सुयोग्य पुत्र है। इन मे जो धार्मिकता तथा सामाजिकता दृष्टिगोचर हो रही है, वह सब लाला जी के पुण्य-प्रताप का ही मधुर फल है।

माता श्री गौरा देवी जी बडी उदार प्रकृति की देवी है। धर्मध्यान की इन को अच्छी लग्न है। दानपुण्य मे सदा अपने धन का सदुपयोग करती रहती है। दो वर्ष हुए, योगनिष्ठ श्रद्धेय श्री स्वामी फूलचन्द्र जी महाराज द्वारा लिखे “नयवाद” का प्रकाशन इन्होने ही करवाया था। आचार्यसम्राट् पूज्य श्री

(ख)

आत्माराम जी महाराज द्वारा विनिर्मित “जैनागमों में परमात्मवाद, का प्रकाशन भी आप ही करवा रही है । आप की इस उदारता के लिए मैं आप का धन्यवाद करता हूँ । और आशा करता हूँ कि भविष्य में भी आप इसी भाँति साहित्यिक सत्कार्यों में अपने धन का सदुपयोग करती रहेगी ।

प्रार्थी—

मन्त्री—

आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशनालय,
जैनस्थानक, लुधियाना ।

दिग्दर्शन

वैदिक-परम्परा में ईश्वर शब्द—

ईश्वर शब्द वैदिक दर्शन का अपना एक पारिभाषिक शब्द है। वैदिक दर्शन के अनुसार उस महाशक्ति का नाम ईश्वर है, जो इस जगत की निर्मात्री है, एक है, सर्वव्यापक और नित्य है। वैदिक दर्शन का विश्वास है कि ससार के कार्यचक्र को चलाने की बागडोर ईश्वर के हाथ में है, ससार के समस्त स्पन्दन उसी की प्रेरणा से हो रहे हैं।

वैदिक दर्शन कहता है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान है, वह जो चाहे कर सकता है। *कर्तव्य को अकर्तव्य और अकर्तव्य को कर्तव्य बना देना उस के बाए हाथ का काम है। सारा ससार उस की इच्छा का खेल है, उसकी इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं कम्पित हो सकता। ससार का उत्थान और पतन उसी के इशारे पर हो रहा है।

वैदिक दर्शन की आस्था है कि अज्ञ होने के कारण जीव अपने सुख और दुःख का स्वयं स्वामी नहीं है, ईश्वर का स्वर्ग या नरक जाना ईश्वर की इच्छा पर निर्भर है। मनुष्य कुछ नहीं कर सकता। उसे तो स्वयं को ईश्वर के हाथों में सौंप

* कर्तुं मकर्तुं मन्यथा कर्तुं समर्थ ईश्वर ।

† अज्ञो जन्तुरनीगोऽयमात्मन सुखदुःखयो ।

ईश्वरप्ररितो गच्छेत्, स्वर्गं वा भ्रमेव वा ॥

(महाभारत)

देना चाहिए, ईश्वर की कृपा ही उसकी दिगडों बना सकती है।

वैदिक दर्शन का कहना है कि भक्त ईश्वर की कितनी भक्ति कर ले, उपासना करले, कितना ही उसका गुणानुवाद करले, पर भक्त भक्त रहेगा और ईश्वर ईश्वर। भक्ति, पूजा, जप, नप त्याग वैराग्य आदि किसी भी प्रकार के अनुष्ठान के आराधन से भक्त ईश्वर नहीं बन सकता है। ईश्वर और भक्त के बीच में जो भेद-मूलक फौलादी दीवार खड़ी है, वह कभी समाप्त नहीं हो सकती है।

इस के अलावा, वैदिक दर्शन विश्वास रखता है कि ससार में जब अधर्म बढ़ जाता है, धर्म की भावनाएँ दुर्बल हो जाती हैं, पाप सर्वत्र अपना शासन जमा लेता है, तो पापियों का नाश करने के लिए तथा धर्म की स्थापना करने के लिए ईश्वर अवतार धारण करता है। मनुष्य, पशु आदि किसी न किसी रूप में जन्म धारण करता है। यह वैदिक दर्शन के ईश्वर के स्वरूप का सक्षिप्त परिचय है।

जैन-परम्परा और ईश्वर शब्द—

जैन साहित्य का परिशीलन करने से पता चलता है कि उस में परमात्मा के अर्थ में ईश्वर शब्द का कहीं प्रयोग नहीं मिलता है। जैनदर्शन में परमात्मा के लिए सिद्ध, बुद्ध, अजर, अमर, सर्वदुःखप्रहीण, निरजन, मुक्तात्मा आदि शब्दों का व्यवहार मिलता है। जैन दर्शन की दृष्टि से ये समस्त शब्द पर्यायवाची हैं, सामान्यतया एक ही अर्थ के वाचक हैं। मुक्तात्मा के स्वरूप का विवेचन करते हुए भगवान् महावीर ने श्री आचाराग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के पञ्चम अध्याय के

छठे उद्देशक में फरमाया है—

मुक्त आत्मा का स्वरूप प्रतिपादन करने में समस्त शब्द हार मान जाते हैं, वहा तर्क का प्रवेश नहीं होता है । बुद्धि उसे अवगाहन नहीं करती है । वह मुक्तात्मा प्रकाश-स्वरूप है । वह समग्र लोक का ज्ञाता है । वह न लम्बा है, न छोटा है, न गोल है (गेन्द के आकार का नहीं है), न तिकोना है, न चतुष्कोण है और न परिमण्डल है (वलय-चूड़ी के आकार का नहीं है)—उस मुक्तात्मा को इन में से कोई आकृति नहीं है । वह न काला है, न नीला है, न लाल है, न पीला है और न शुक्ल है—उसका कोई रूप नहीं है । वह न सुगन्ध वाला है, न दुर्गन्ध वाला है—उस में कोई गन्ध नहीं है । वह न तीक्ष्ण (तीखा) है न कटुक है न कषायला है, न खट्टा है और न मीठा है—उस में कोई रस नहीं है । वह न कर्कश है, न मृदु है, न भारी है, न हलका है, न ठण्ठा है, न गरम है, न स्निग्ध है और न रूक्ष है—उस में कोई स्पर्श नहीं है । वह मुक्तात्मा शरीर-रूप नहीं है । वह जन्म मरण के मार्ग को सर्वथा पार कर चुका है । वह अनासक्त है—आसाक्त वाला नहीं है । वह न स्त्री रूपा है, न पुरुष-रूप है, न अन्यथा रूप है अर्थात् न नपुंसक रूप है और अवेद है—वेद रहित है । वह समस्त पदार्थों का सामान्य और विशेष रूप से ज्ञाता है । उसे समझाने के लिए कोई उपमा नहीं है, वह अरूपी सत्ता है—रूप रहित सत्ता वाला है । उस अनिर्वचनीय को किसी वचन के द्वारा नहीं कहा जा सकता है । वह शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श स्वरूप नहीं है । शब्द के द्वारा वाच्य (जिस के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है) यही पदार्थ होते हैं, परन्तु मुक्तात्मा इन में से कुछ नहीं है, अतः वह अवक्तव्य है ।

जैनदर्शन में मुक्तात्मा के अर्थ में ईश्वर शब्द का व्यवहार नहीं किया जाता है, तथा जैनदर्शन, वैदिकदर्शन द्वारा माने गए ईश्वर का ईश्वरत्व (जगत्कर्तृत्व आदि) भी स्वीकार नहीं करता है। जैनदर्शन का विश्वास है कि परमात्मा सत्यस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है, अनन्दस्वरूप है, वीतराग है, सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है। परमात्मा का दृश्य या अदृश्य जगत में प्रत्यक्ष या परोक्ष कोई हस्तक्षेप नहीं है, वह जगत का निर्माता नहीं है, भाग्य का विधाता नहीं है, कर्म-फल का प्रदाता नहीं है, तथा अवतार लेकर वह ससार में आता भी नहीं है।

जैनदर्शन कहता है कि व्यक्ति को अपेक्षा से परमात्मा एक नहीं है, अनन्तजीव परमात्मपद प्राप्त कर चुके हैं। परमात्मा अनादि नहीं है। परमात्मा को अनादि न मानने का इतना ही अभिप्राय है, कि जीव कर्मों को क्षय करने के अनन्तर ही परमात्मपद पाता है। परमात्मा एक जीव को दृष्टि से सादि अनन्त है, अनादि काल से जीव मुक्त हो रहे हैं, और अनन्त काल तक जीव मुक्त होते रहेंगे इस दृष्टि से परमात्मा अनादि अनन्त भी है। परमात्मा आत्मप्रदेशों की दृष्टि से सर्वव्यापक नहीं है। उसके आत्मप्रदेश सीमित प्रदेश में अवस्थित है, किन्तु उसके ज्ञान से सारा ससार आभासित हो रहा है, इस दृष्टि से (ज्ञान की दृष्टि से) उसे सर्वव्यापक भी कह सकते हैं। ससार के धन्धे में उसका कोई हस्तक्षेप नहीं है। जीव को कर्म करने में किसी सर्वथा स्वतन्त्र है, परमात्मा जीव कर्म करने में किसी भी प्रकार की कोई प्रेरणा प्रदान नहीं करता है। उसे किसी कर्म के करने से वह निषिद्ध भी नहीं करता। जीव जो कर्म करता है, उसका फल जीव को स्वतः ही मिल जाता है। आत्म-प्रदेशों से सम्बन्धित कर्म-परमाणु ही कर्म-कर्ता जीव को स्वयं अपना फल दे डालते हैं। मदिरा मदिरासेवी व्यक्ति पर जैसे

स्वय ही अपना प्रभाव डाल देती है, वैसे ही कर्म-परमाणु जोव को स्वत ही अपने प्रभाव से प्रभावित कर डालते हैं। परमात्मा का उसके साथ प्रत्यक्ष या परोक्ष कोई सम्बन्ध नहीं है। कर्मफल पाने के लिए जोव को परमात्मा के द्वार नहा खटखटाने पडते हैं। जीव सर्वथा स्वतत्र है, किसी भी दृष्टि से वह परमात्मा के अधीन नहीं है। संक्षेप में कह सकते हैं—

राम किसी को मारे नहीं, मारे सो नहीं राम।

आप ही आप मर जायेगा, करके खोटा काम ॥

जैनदर्शन की आस्था है कि जीव अपने भाग्य का स्वय निर्माता है, स्वर्ग, नरक मनुष्य की सद्-असद् प्रवृत्तियों का परिणाम है। अपनी नय्या को पार करने वाला भी जीव स्वय ही है और उसे डुबोने वाला भी वह स्वय ही है। इस में परमात्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है।

ऊपर की पक्तियों में यह स्पष्ट हो गया है कि ईश्वर शब्द वैदिक दर्शन का अपना एक पारिभाषिक शब्द है, जैनदर्शन में उस के लिए कोई स्थान नहीं है। वैदिकदर्शन में ईश्वर शब्द की जो परिभाषा व्यक्त की गई है, जैनदर्शन उस पर कोई आस्था नहीं रखता है। जैनदर्शन तो सर्वोत्तम और सर्वथा निष्कर्म दशा को प्राप्त आत्मा को ही परमात्मा या सिद्ध या बुद्ध आदि शब्दों के द्वारा प्रकट करता है। ऐसी निष्कर्म आत्मा को वह वैदिक सम्मत ईश्वर के नाम से कभी व्यवहृत नहीं करता है।

ईश्वर शब्द की व्यापकता—

ईश्वर शब्द की ऐतिहासिक अर्थविचारणा पर विचार करते हुए मालूम होता है कि वैदिकदर्शन के यौवनकाल में

ईश्वर शब्द एक विशेष अर्थ में रूढ था। उस समय जगत्-कर्तृत्व आदि विविध शक्तियों की धारक महाशक्ति को ही ईश्वर के नाम से व्यवहृत किया जाता था, किन्तु अग्निम कुछ शताब्दियों से ईश्वर शब्द सामान्यतया परमात्मा का निर्देशक बन गया है। ईश्वर शब्द का उच्चारण करते ही मनुष्य को सामान्य रूप से परमात्मा का बोध होता है। आज ईश्वर के उच्चारण करने पर जगत् की निर्मात्री, भाग्यविधात्री, कर्मफलप्रदात्री तथा अवतार-ग्रहित्री किसी शक्ति-विशेष का बोध नहीं होता है। ईश्वर एक है, सर्व-व्यापक है, नित्य है, आदि बातों का भी आज ईश्वर शब्द परिचायक नहीं रहा है। आज तो ईश्वर शब्द सीधा परमात्मा का निर्देश करवाता है। फिर चाहे कोई उसे किसी भी रूप में स्वीकार करता हो। ईश्वर शब्द सामान्य रूप से परमात्मा का निर्देशक होने के कारण ही आज सर्वप्रिय बन गया है। आत्मवाद सभी दर्शनों ने ईश्वर शब्द को अपना लिया है, आत्मवादी सभी दर्शन ईश्वर को आदरास्पद स्वीकार करते हैं। जैनदर्शन जो सदा अनीश्वरवादी कहा जाता रहा है और जिस ने ईश्वर शब्द को कभी अपनाया ही नहीं है। तथापि आज उस के अनुयायी सहर्ष ईश्वर का नाम लेते हैं, अपने को ईश्वरवादी कहने में जरा सकोच नहीं करते हैं। कारण स्पष्ट है कि ईश्वर शब्द आज वैदिकदर्शन का पारिभाषिक शब्द नहीं समझा जाता है। अब तो सामान्य रूप से वह परमात्मा का, सिद्ध का, बुद्ध का निर्देशक बन गया है। आज ईश्वर, परमात्मा, सिद्ध, बुद्ध, गाड (God), खुदा आदि सभी शब्द समानार्थक समझे जाते हैं। सैद्धान्तिक और साम्प्रदायिक दृष्टि से इन शब्दों के पीछे

किसी का कोई भी पारिभाषिक अभिमत रह रहा हो, किन्तु जनसाधारण इन समस्त शब्दों से सामान्यतया परमात्मा का ही बोध प्राप्त करता है ।

ईश्वर के तीन रूप—

ऊपर की पक्तियों में स्पष्ट कर दिया गया है, वैदिकदर्शन के यौवनकाल में ईश्वर शब्द एक विशिष्ट और पारिभाषिक अर्थ का बोधक रहा है, किन्तु अन्तिम शताब्दियों में इस का वह रूप परिवर्तित हो गया है । अब तो यह सामान्यतया परमात्मा का निर्देशक है । आज सभी आत्मवादी दर्शन ईश्वर को मानते हैं । कोई आत्मवादी दर्शन ईश्वर को सत्ता से इन्कार नहीं करता है । सभी इसे सहर्ष स्वीकार करते हैं ।

सामान्य रूप से सभी आत्मवादी दर्शन ईश्वर को मानते हैं, किन्तु सैद्धान्तिक और साम्प्रदायिक दृष्टि से ईश्वर-सम्बन्धी गुणों में वे थोड़ा-थोड़ा मतभेद रखते हैं । इसी मतभेद को ले कर आज ईश्वर के सम्बन्ध में तीन विचार-धाराएँ उपलब्ध होती हैं । वे तीनों विचारधाराएँ संक्षेप में इस प्रकार हैं—

१—ईश्वर एक है, अनादि है, सर्वव्यापक है, सच्चिदानन्द है, घट-घट का ज्ञाता है, सर्वशक्तिमान है, जगत् का निर्माता है, भाग्य का विधाता है, कर्मफल का प्रदाता है । ससार में जो कुछ होता है, वह सब ईश्वर के सकेत से होता है । ईश्वर पापियों का नाश करने के लिए तथा धार्मिक लोगों का उद्धार करने के लिए कभी न कभी, किसी न किसी रूप में ससार में जन्म लेता है, वैकुण्ठ से नीचे उतरता है और अपनी लीला दिखा कर वापिस वैकुण्ठ-धाम में जा विराजता है ।

ईश्वर का यह एक रूप है, जिसे आज हमारे सनातनधर्मों

भाई मानते हैं। ईश्वर का दूसरा रूप नीचे की पक्तियों में पढ़िए—

२—ईश्वर एक है, अनादि है, सर्वव्यापक है, सच्चिदानन्द है, घट-घट का ज्ञाता है, सर्वशक्तिमान है, ससार का निर्माता है। जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है, उस में ईश्वर का कोई हस्तक्षेप नहीं है। जीव अच्छा या बुरा जैसा भी कर्म करना चाहे कर सकता है, यह उस की इच्छा की बात है, ईश्वर का उस पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है किन्तु जीवों को उन के कर्मों का फल ईश्वर देता है। अपनी लीला दिखाने के लिए, पापियों का नाश करने के लिए और धर्मियों का उद्धार करने के लिए ईश्वर अवतार धारण नहीं करता है, भगवान से मनुष्य या पशु के रूप में जन्म नहीं लेता है।

ईश्वर का यह दूसरा रूप है, जिसे आज फल हमारे आर्य भाई मानते हैं। ईश्वर का तीसरा रूप भी समझ लीजिए—

३—ईश्वर एक ही नहीं है, ईश्वर अनेक भी है, अनादि ही नहीं है, सर्वव्यापक ही नहीं है, अनन्त शक्तिमान है, घट-घट का ज्ञाता है, द्रष्टा है, जगत का निर्माता नहीं, भाग्य का विधाता नहीं, कर्मफल का प्रदाता नहीं, अवतार लेकर ससार में आता नहीं, जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है, जीवकृत कर्म के साथ ईश्वर का प्रत्यक्ष या परोक्ष कोई सम्बन्ध नहीं है। जीव की उन्नति या अवनति में ईश्वर का कोई हस्तक्षेप नहीं है, अहिंसा, सयम और तप की त्रिवेणी में विशुद्ध मनसा, वाचा और कर्मणा गोते लगाने वाला व्यक्ति निष्कर्मता को प्राप्त करके ईश्वर बन जाता है। ईश्वर और जीव में केवल कर्म-गत अन्तर है। कर्म की द्वाार यदि मध्य में से उठा दी जाए तो जीव में और ईश्वर में

स्वरूप कृत कोई अन्तर नहीं रहता है, जीव ईश्वर-स्वरूप ही बन जाता है ।

यह ईश्वर का तीसरा रूप है, जिसे जैन लोग स्वीकार करते हैं। जेनों की ईश्वर-सम्बन्धी मान्यता के सम्बन्ध में पीछे भी वर्णन किया जा चुका है ।

ईश्वर के सम्बन्ध में अन्य अनेको रूप भी मिल जाते हैं । किन्तु मुख्य रूप से आज इन तीनों रूपों का ही अधिक प्रचार एवं प्रसार देखने में आता है । इसलिए यहाँ इन तीनों का ही संक्षिप्त परिचय कराया गया है ।

जनागमो में परमात्मवाद—

आरंभ में कहा जा चुका है कि जैनदर्शन में परमात्मा के अर्थ में ईश्वर शब्द का व्यवहार देखने नहीं आता है । परमात्मा के लिए जैनदर्शन में सिद्ध, बुद्ध आदि पदों का प्रयोग मिलता है । अब यहाँ कई एक प्रश्न हमारे सामने आते हैं कि जैनदर्शन में सिद्ध, बुद्ध आदि पदों का प्रयोग किस-किस रूप में पाया जाता है? और कहा-कहा पाया जाता है ? तथा जैनदर्शन परमात्मा को एक कहता है या अनेक? यदि बतलाता है या अनादि? इन प्रश्नों का तथा इस प्रकारके अन्य प्रश्नों का समाधान प्राप्त करने के लिए हमें जैनागम-सागर का मन्थन करना होगा । जैनागमों का गभीर चिन्तन, मनन, निदिध्यासन किए बिना उक्त प्रश्नों का समाधान प्राप्त होना कठिन है । पर यह काम बच्चों का खेल नहीं है । इस के लिए प्रतिभा चाहिए और जैनागमों का सम्यक्तया परिज्ञान होना चाहिए । जिस को जैनागमों का पर्याप्त बोध हो, उनके पूर्वापर सम्बन्धों की पूर्णतया जानकारी हो तथा उन में निराबाध गति से जो

विहरण कर सकता हो, ऐसा कोई आगम-मन्त्र महापुरुष ही इन प्रश्नों का समाधान कर सकता है। जनसाधारण वे दश का यह काम नहीं है।

जैन समाज में आगममहारथी महा-पुरुषों की कमी नहीं है। जैनागमों के मर्म को समझने वाले तथा उस के महासागर के तल का स्पर्श करने वाले समाज में आज भी अनेको पूज्य मुनिराज हैं। किन्तु मालूम होता है कि इस सम्बन्ध में उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया। यही कारण है कि आज तक किसी ऐसी पुस्तक की रचना नहीं हो सकी है, जिस में परमात्मसम्बन्धी आगम-पाठों का सकलन किया गया हो। वैसे ऐसी पुस्तक होनी अवश्य चाहिए। जैनागमों में जहाँ-जहाँ परमात्मा का वर्णन आता है, जिन शब्दों तथा जिस रूप में वह वर्णन किया गया है उस सब का सकलन किसी पुस्तक में अवश्य हो जाना चाहिए। तभी जैनागमों में वर्णित परमात्म-स्वरूप का जनसाधारण को बोध प्राप्त हो सकता है।

आगमों में यत्र-तत्र आए हुए परमात्मसम्बन्धी पाठों का सकलन होना चाहिए, ऐसा सकल्प तो जिज्ञासु पाठकों के हृदयों में वर्षों से चक्र लगा रहा है, किन्तु उसे पूरा करने का किसी ने प्रयास नहीं किया। मुझे हार्दिक हर्ष होता है, यह बताते हुए कि हमारे श्रद्धेय आचार्य-सम्राट् श्री ने इस दिशा में प्रयत्न करके उस सकल्प को आज पूरा कर दिया है। आचार्य श्री ने अपने अनवरत स्वाध्याय के बल पर आगमों से प्रायः वे सभी पाठ सकलित कर लिये हैं, जिन में परमात्मवाद को ले कर कुछ न कुछ कहा गया है, उसके स्वरूप को लेकर चिंतन किया गया है। उन पाठों का सकलित रूप ही आज हमारे सामने

“जैनागमो में परमात्मवाद” यह पुस्तिका है। इस पुस्तिका में परमात्मसम्बन्धी प्रायः सभी पाठों को संग्रहीत कर लिया गया है।

“जैनागमो में परमात्मवाद” में सर्वप्रथम शास्त्रोक्त पाठ है, फिर टिप्पणों में उसकी संस्कृत-च्छाया है। तदनन्तर उस पाठ की संस्कृत-व्याख्या है। तत्पश्चात् उसका हिन्दी में भावार्थ है। मूलपाठ देखने वाले को इस में मूलपाठ मिलेगा। जो संस्कृत भाषा के विद्वान् मूलपाठ के गर्भो र हार्द को संस्कृत भाषा में जानने की रुचि रखते हैं, उनके लिए मूलपाठ की संस्कृत-व्याख्या का इसमें संयोजन किया गया है। जो हिन्दी में उसे समझना चाहते हैं, उन के लिए हिन्दी भाषा में उन पाठों का अनुवाद कर दिया गया है। इस प्रकार इस पुस्तिका को प्रत्येक दृष्टि से उपयोगी और लोकप्रिय बनाने का स्तुत्य प्रयास किया गया है। इस का सभी श्रेय हमारे श्रद्धेय गुरुदेव जैन-धर्म-दिवाकर आचार्य-सम्राट् पूज्य श्री आत्माराम जो महाराज को ही है। इन्हीं के अनवरत परिश्रम का यह सुफल है। शारीरिक स्वास्थ्य ठीक न रहते हुए भी आचार्य श्री ने साहित्य-सेवा में अपना यह योगदान दिया है, इस के लिए साहित्यजगत आचार्य श्री का सदा के लिए ऋणी रहेगा।

ईश्वर-सम्बन्धी हिन्दी साहित्य में इस पुस्तक की अपनी विशिष्ट उपयोगिता है। जो व्यक्ति जानना चाहते हैं कि जैनागमो में परमात्मा के सम्बन्ध में कैसा निरूपण किया गया है? और किन-किन शब्दों में किया गया है? उनको इस पुस्तक में पर्याप्त सामग्री मिलेगी। और जो लोग यह कहते चले आ रहे हैं कि जैनदर्शन परमात्मा की सत्ता से इन्कार करता है,

या उसके सम्बन्ध में सर्वथा मौन है, उन लोगों को भी इस पुस्तक में समुचित समाधान मिल जायेगा, इस पुरतक के अध्ययन से उन को पता चल जायेगा कि जैनधर्म परमात्मा की सत्ता को सहर्ष स्वीकार करता है, और प्रामाणिकता के साथ परमात्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करता है। इस तरह यह पुस्तक साहित्य-जगत में महान उपकारक, हितावह प्रमाणित होगी, यह मैं दृढता के साथ कह सकता हूँ।

परमश्रद्धेय आचार्य सम्राट् श्री के हम आभारी हैं, जो शारीरिक दुर्बलता के रहते हुए भी साहित्य-सेवा के पुनीत कार्य को चालू रख रहे हैं। अबतक आचार्य श्री लगभग ६० पुस्तकें लिख चुके हैं। नेत्र-ज्योति की मदता तथा एक कम अस्सी वर्षों की वयोवृद्ध अवस्था हो जाने पर आज भी श्रद्धेय आचार्य-देव इस पुनीत साहित्य-कार्य से विश्राम नहीं ले रहे हैं। अवसर निकालकर इस कार्य को करते ही रहते हैं। प्रस्तुत पुस्तिका भी आचार्य-देव की इसी लग्न का सुपरिणाम है। आचार्य-देव की इस साहित्यप्रियता, कृपालुता और दयालुता के लिए जितना भी उनका आभार प्रकट किया जाये उतना ही कम है।

जनस्थानक, लुधियाना }
कार्तिक शुक्ला १५ २०१६ }

—ज्ञानमुनि

जैनागमों में परमात्मवाद

* मङ्गलाचरणम् *

अमूर्तस्य चिदानन्द - रूपस्य परमात्मन ।

निरञ्जनस्य सिद्धस्य, ध्यान स्यादरूपवर्जितम् ॥

इत्यजस्र स्मरन् योगी, तत्स्वरूपावलम्बन ।

तन्मयत्वमवाप्नोति, ग्राह्यग्राहकवर्जितम् ॥

अनन्यशरणीभूय, स तस्मिन् लीयते यथा ।

ध्यातृ - ध्यानोभयाभावे, ध्येयमैक्यं यथा व्रजेत् ॥

सोऽयं समरसीभाव, तदेकीकरणं मतम् ।

आत्मा यदपृथक्त्वेन, लीयते परमात्मनि ॥

अलक्ष्यं लक्ष्य-सम्बन्धात्, स्थूलात्सूक्ष्मं विचिन्तयेत् ।

सालम्बाच्च निरालम्ब, तत्त्ववित् तत्त्वमजसा ॥

एव चतुर्विधध्यानामृतमग्नं मुनेर्मन ।

साक्षात्कृतजगत्तत्त्व, विधत्ते शुद्धिमात्मनः ॥

— योगशास्त्र, प्रकाश १०

परमात्मा का स्वरूप

मूल पाठ

*सव्वे सरा णियट्ठन्ति, तक्का जत्थ न विज्जइ,
मइ तत्थ न गाहिया, ओए, अप्पइट्ठाणस्स खेयन्ते, से न

* सर्वे स्वराः निवर्तन्ते, तर्को यत्र न विद्यते, मतिस्तत्र न ग्राहिका,
श्रोजः, अप्रतिष्ठानस्य खेदज्ञः, स न दीर्घो, न ह्रस्वो, न वृत्तो, न

दीहे, न हस्से, न वट्टे, न तसे, न चउरसे, न परिमडले,
 न किण्हे, न नीले, न लोहिण्. न हालिहे, न सुकिल्ले,
 न सुरभिगन्धे, न दुरभिगन्धे, न तित्ते, न कडुए, न
 कसाए, न अबिले, न महुरे, न ककखडे, न मउए, न गरुए,
 न लहुए, न सीए, न उण्हे, न निद्धे, न लुक्खे, न काऊ,
 न रुहे, न सगे, न इत्थी, न पुरिसे, न अन्नहा, परिन्ने,
 सन्ने, उवमा न विज्जए, अरूवी सत्ता, अपयस्स पय
 नत्थि ।

से न सद्दे, न रूवे, न गधे, न रसे, न फासे ।

—आचारागसूत्र प्रथमश्रुतस्कथ अध्याय ५ उद्देश ६ ।

संस्कृत-व्याख्या

“सर्वे” निरवशेषा. “स्वरोः” ध्वनयस्तस्मान्निवर्तन्ते तद् वाच्य-
 वाचक-सम्बन्धे न प्रवर्तन्ते, तथाहि—शब्दा. प्रवर्तमाना रूप-रस-गन्ध-
 स्पर्शानामन्यतमे विशेषे सकेत-काल-गृहीते तत्तुल्ये वा प्रवर्त्तरन, नचैतत्तत्र
 शब्दादिना प्रवृत्तिनिमित्तमस्ति, अतः शब्दानभिधेया मोक्षावस्थेति । न

श्र्यस्रो, न चतुरस्रो, न परिमण्डलो, न कृष्णो, न नीलो, न लोहितो,
 न हारिद्रो, न शुक्लो, न सुरभिगन्धो, न दुरभिगन्धो, न तित्तो, न
 कटुको, न ऋषाधो, नाम्लो, न मधुरो, न कर्कशो, न मृदुः, न गुरुः, न
 लघुः. न शीतो, नोष्णो, न स्निग्धो, न रूक्षो, न कायवान्, न रुहः,
 न सगः, न स्त्री, न पुरुषः, नान्यथा, परिज्ञः, सज्ञः, उपमान न विद्यते,
 अरूपिणी सत्ता, अपदस्थ पदं नास्ति ।

स न शब्दः, न रूपः, न गन्धः, न रसः, न स्पर्शः ।

केवलं शब्दानभिधेया, उत्प्रेक्षणीयापि न सभवतीत्याह—सभवत्पदार्थ-
विशेषास्तित्वाध्यवसाय ऊहस्तर्क एवमेव चैतत्स्यात्, स च यत्र न विद्यते
तत शब्दाना कुतः प्रवृत्तिः स्यात्, किमिति तत्र तर्काभाव इति चेदाह-
मनन मतिः—मनसो व्यापारः पदार्थचिन्ता सौत्पत्तिक्यादिका चतुर्विधापि
मतिस्तत्र न ग्राहिका, मोक्षावस्थाया सकल—विकल्पातीतत्वात्, तत्र च
मोक्षे कर्माशिसमन्वितस्य गमनमाहोस्विन्निष्कर्मणः ? , न तत्र कर्मसम-
न्वितस्य गमनमस्तीत्येतद्दर्शयितुमाह—“अोजः” एकोऽशेष—
मलकलकाकरहितः, किं च—न विद्यते प्रतिष्ठानमौदारिक-शरीरादेः कर्मणो
वा यत्र सांऽप्रतिष्ठानो मोक्षस्तस्य ‘खेदज्ञो’ निपुणो यदि वा अप्रतिष्ठा-
नो नरकस्तत्र स्थित्यादिपरिज्ञानतया खेदज्ञो, लोक-नाडि-पर्यन्तपरिज्ञाना-
वेदनेन च समस्तलोकखेदज्ञता आवेदिता भवति । सर्वस्वरनिवर्तनं च
येनाभिप्रायेणोक्तवास्तमभिप्रायमाविष्कुर्वन्नाह—‘स’परमपदाभ्यासी लोकान्त-
क्रोशषड्भागक्षेत्रावस्थानोऽनन्तज्ञानदर्शनोपयुक्ता सस्थानमाश्रित्य न दीर्घो,
न ह्रस्वो, न वृत्तो, न त्र्यस्रो, न चतुरस्रो, न पारमडलो, वर्णमाश्रित्य न
कृष्णो, न नीलो, न लोहितो, न हारिद्रो, न शुल्को, गन्धमाश्रित्य—न
सुरभिगन्धो, न दुरभिगन्धो, रसमाश्रित्य—न तिक्तो, न कटुको, न कषायो, नाम्ल^१
न मधुरः, स्पर्शमाश्रित्य—न कर्कशो, न मृदु, न लघुः, न ग्रुहः, न शीतो, नोष्णो,
न स्निग्धो, न रूक्षो, ‘न काउ’ इत्यनेन लेश्या गृहीता यदि वा न कायवान्.
यथा वेदान्तवादिनाम्—एक एव मुक्तात्मा तत्कायमपरे क्षीणक्लेशा
अनुप्रविशन्ति, आदित्य—रश्मय इवाशुमन्तमिति, तथा न ‘रुह’ बीज—
जन्मनि प्रादुर्भावे “च”—रोहतीति—रुहः न रहोऽरुहः कर्मबीजाभावादपु-
नर्भावीत्यर्थः, न पुनर्यथा शाक्याना दर्शन—निकारतो मुक्तात्मनोऽपि
पुनर्भ्रवोपादानमिति, उक्तं च—

दग्धेधनः पुनरुपैति भवं प्रमथ्य,
निर्वाणमप्यनवधारित—भीरुनिष्ठम् ।

मुक्त स्वय कृतभवश्च पराथशूर,
स्त्वच्छासन-प्रतिहतेष्विह मोहराज्यम् ॥१॥

तथा च न विद्यते सगोऽमूर्त्तत्वाद्यस्य स तथा, तथा न म्त्री, न-
पुरुषो, नान्यथेति—न नपु सका केवल सर्वैरात्मप्रदेशे परि-समन्तात्
विशेषतो जानातीति—परिज्ञः, तथा सामान्यत सम्यग् जानाति—पश्यति
इति सज्ञा, ज्ञानदर्शनयुक्त इत्यर्थ । यदि नाम स्वरूपतो न ज्ञायते,
मुक्तात्मा तथाप्युपमाद्वारेणादित्य गतिरिव ज्ञायत एवेति चेत् तन्न यत
उपनीयते सादृश्यात् परिच्छिद्यते यया सोपमा-तुल्यता सा मुक्तात्मन-
स्तज्ज्ञानसुखयोर्वा न विद्यते, लोकातिगत्वात्तेषा, कुत एतदिति चेदाह—तेषा
मुक्तात्मना या सत्ता सा अरूपिणी अरूपित्व च दीर्घादिप्रतिषेधेन प्रतिपा-
दितमेव । किं च न विद्यते पदम्—अवस्थाविशेषो यस्य सोऽपद तस्य
पद्यते-गम्यते येनार्थस्तत्पदम्—अभिधान तच्च नास्ति” न विद्यते वा-
च्यविशेषाभावात् तथाहि—योऽभिधीयते स शब्द-रूप-गन्ध-रसस्पर्शान्यतर-
विशेषेणाभिधीयते तस्य च तदभाव इत्येतद्दर्शयितुमाह—यदि वा दीर्घं
इत्यादिना रूपादिविशेष-निराकरण कृतम्, इह तु तत्सामान्य-निराकरण
कर्तुं कामाह—स मुक्तात्मा न शब्दरूपः, न रूपात्मा, न गन्ध, न रस,
न स्पर्श ।

हिन्दी भावार्थ—

मुक्तात्मा का स्वरूप बताने के लिए कोई भी शब्द समर्थ
नहीं है । तर्क की वहा गति नहीं होती है । बुद्धि वहा तक जा
नहीं सकती है । उसकी कल्पना नहीं की जा सकती है । वह
मुक्तात्मा सकल कर्म रहित, सम्पूर्ण ज्ञानमय दशा मे विराजमान
है । वह न लम्बा है, न छोटा है, न गोल है, न त्रिकोण है,
न चौरस है, न मण्डलाकार है, न काला है, न नीला है, न
लाल है । वह पीला और सफ़ेद भी नहीं है । सुगन्ध और दुर्गन्ध

वाला नहीं है । तीक्ष्ण और कटुक नहीं है । कसैला, खट्टा और मीठा नहीं है । वह न कठोर है, न सुकुमार है, न हल्का है, न भारी है, न शीत है, न उष्ण है, न स्निग्ध है, न रूक्ष है, न शरीरधारी है, न पुनर्जन्मा है, न आसक्त है, न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है । वह ज्ञाता है, परिज्ञाता है, उसकी उपमा नहीं है । वह अरूपी है, अवर्णनीय है, शब्दों द्वारा उसका वर्णन नहीं किया जा सकता है ।

मुक्तात्मा शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श स्वरूप भी नहीं है ।

मूल पाठ

* एककतीस सिद्धाद्गुणा पण्णत्ता, तजहा—खोणे
आभिणिबोहिय—णाणावरणे, खीणे सुयणाणावरणे,
खोणे ओहियणाणावरणे, खीणे मणपज्जवणाणावरणे

* एकत्रिंशत् सिद्धाद्विगुणाः प्रज्ञप्ता तद्यथा—क्षीणमाभिनिबोधिक-
ज्ञानावरण, क्षीण श्रुतज्ञानावरण, क्षीणमवधिज्ञानावरण, क्षीण मन-
पर्यवज्ञानावरण, क्षीण केवलज्ञानावरण, क्षीण चक्षुर्दर्शनावरण
क्षीणमचक्षुर्दर्शनावरण, क्षीणमवधिदर्शनावरण, क्षीण केवलदर्शनावरण,
क्षीणा निद्रा, क्षीणा निद्रानिद्रा, क्षीणा प्रचला, क्षीणा प्रचलाप्रचला,
क्षीणा स्त्यानद्धि, क्षीण सातावेदनीय, क्षीणमसातावेदनीयं, क्षीण
दर्शनमोहनीय, क्षीण चारित्रमोहनीय, क्षीण नैरयिकायुष्क, क्षीण तिर्यगा-
युष्क, क्षीण मनुष्यायुष्क, क्षीण देवायुष्क, क्षीणमुच्चगोत्र, क्षीण नीचगोत्र,
क्षीण शुभनाम, क्षीणमशुभनाम, क्षीणो दानान्त-राय, क्षीणो लाभान्त-
राय, क्षीणो भोगान्तराय., क्षीण उपभोगान्तराय, क्षीणो वीर्यान्तरायः ।

खीणे केवलणाणावरणे, खीणे चक्खुदसणावरणे, खीणे अचक्खुदसणावरणे, क्षीणे ओहिदसणावरणे, खीणे केवलदसणावरणे, खीणे णिद्दा, खीणे निद्दानिद्दा, खीणे पयला, खीणे पयलापयला, खीणे थीणद्धी, खीणे सायावेयणिज्जे, खीणे असायावेयणिज्जे, खीणे दसण-मोहणिज्जे, खीणे चरित्तमोहणिज्जे, खीणे नेरइ-आउए, खीणे तिरिआउए, खीणे मणुम्साउए, खीणे देवाउए, खीणे उच्चागोए, खीणे निच्चागोए, खीणे सुभणामे, खीणे असुभणामे, खीणे दाण तराए, खीणे लाभतराए, खीणे भोगतराए, खीणे उवभोगतराए, खीणे वीरियतराए ।

—समवायाग सूत्र, समवाय ३१

हिन्दी-भावार्थ—

सिद्धों के ३१ गुण माने जाते हैं । जैसे कि—

१. आभिनिबोधिक ज्ञानावरण-मतिज्ञानावरण कर्म का क्षय ।
२. श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षय ।
३. अवधि-ज्ञानावरण कर्म का क्षय ।
४. मन पर्यव-ज्ञानावरण कर्म का क्षय ।
५. केवल-ज्ञानावरण कर्म का क्षय ।
६. चक्षुर्दर्शनावरण कर्म का क्षय ।
७. अचक्षुर्दर्शनावरण कर्म का क्षय ।
८. अवधि-दर्शनावरण कर्म का क्षय ।
९. केवल-दर्शनावरण कर्म का क्षय ।

१०. निद्रा का क्षय ।
- ११ निद्रानिद्रा का क्षय ।
- १२ प्रचला का क्षय
१३. प्रचल-प्रचला का क्षय ।
- १४ स्त्यानद्धि का क्षय ।
- १५ सातावेदनीय कर्म का क्षय ।
- १६ असातावेदनीय कर्म का क्षय ।
- १७ दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय ।
१८. चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय ।
१९. नरकायु का क्षय ।
२०. तिर्यञ्चायु का क्षय ।
२१. मनुष्यायु का क्षय ।
- २२ देवायु का क्षय ।
२३. उच्च गोत्र कर्म का क्षय ।
- २४ नीच गोत्र कर्म का क्षय ।
२५. शुभ नाम कर्म का क्षय ।
- २६ अशुभ नाम कर्म का क्षय ।
- २७ दानान्तराय कर्म का क्षय ।
२८. लाभान्तराय कर्म का क्षय ।
- २९ भोगान्तराय कर्म का क्षय ।
३०. उपभोगान्तराय कर्म का क्षय ।
३१. वीर्यान्तराय कर्म का क्षय ।



मूल पाठ

* कहि पडिहया सिद्धा ? कहि सिद्धा पडिटिया ?
कहि बोदि चइत्ता ण , कत्थ गतूण सिज्झइ ? ॥१॥

संस्कृत—व्याख्या

अथ-प्रश्नोत्तरं द्वारेण सिद्धानामेव वचनव्यतामाह—कहि इत्यदि श्लोकद्वय, क्व प्रतिहता —क्व प्रस्खलिता सिद्धा मुक्ता ? तथा क्व सिद्धा प्रतिष्ठिता-व्यवस्थिता इत्यर्थ ? तथा क्व बोन्दि-शरीर त्यक्त्वा ? तथा क्व गत्वा सिज्झइ ति-प्राकृतत्वात् । से इ च।इति वुच्चइ, इत्यादिवत् सिध्यन्तीति व्याख्येयमिति ।

हिन्दी—भावार्थ

सिद्ध कहा पर प्रतिहत होते है ? अर्थात् निष्कर्म आत्मा ऊपर की ओर गमन करती हुई कहा पर जा कर रहती है ? सिद्ध कहा पर जा कर ठहरते है ?

सिद्ध कहा पर शरीर छोड़ते है और कहा पर जा कर सिद्धावस्था को प्राप्त करते है ?

मूल पाठ

† अलोगे पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पडिटिया ।
इह बोन्दि चइत्ता ण , तत्थ गन्तूण सिज्झइ ॥२॥

* कुत्र प्रतिहता सिद्धा ? , कुत्र सिद्धाः प्रतिष्ठिता ?

कुत्र बोन्दि (शरीर) च त्यक्त्वा, कुत्र गत्वा सिध्यन्ति ?

† अलोके प्रतिहता सिद्धा, लोकाग्रे च प्रतिष्ठिताः ।

इह बोन्दि (शरीर) त्यक्त्वा, तत्र गत्वा सिध्यन्ति ॥

सस्कृत—व्याख्या

अलोके अलोक।काशास्तिकाये प्रतिहता—स्खलिता सिद्धा—मुक्ता*, प्रतिस्खलन चेहानन्तर्यवृत्तिमात्र, तथा लोकाग्रे च पचास्तिकायात्मक-लोकमूर्धनि च प्रतिष्ठिता-अपुनरागत्या व्यवस्थिता इत्यर्थ, तथा इह-मनुष्यक्षेत्रे बोन्दि—तनु परित्यज्य तत्रेति लोकाग्रे गत्वा सिज्भइ त्ति सिध्यन्ति निष्ठितार्था भवन्ति ।

हिन्दी—भावार्थ

सिद्ध अलोक से प्रतिहत होते हैं, और लोक के अग्रभाग पर जा कर ठहरते हैं ।

मनुष्य क्षेत्र में शरीर छोड़ते हैं और लोकाग्रभाग पर सिद्धावस्था को प्राप्त होते हैं ।

मूल पाठ

* ज सठाण इह भवे, चयतस्स चरिमसमयम्मि ।

आसी य एएसघण, त सठाण त्ति तस्स ॥३॥

सस्कृत—व्याख्या

किञ्च—ज सठाण, गाहा व्यक्ता, नवर प्रदेशघनमिति त्रिभागेन रन्ध्रपूरणादिति हि' ति सिद्धि-क्षेत्रे 'तस्स' त्ति सिद्धस्येति ।

हिन्दी—भावार्थ

सिद्ध आत्मा का इस मनुष्य क्षेत्र में जो सस्थान (आकार) होता है, अन्तिम समय में वह छोटा रह जाता है । छोटा हो

* यत्सस्थानमिहभवे, त्यजत चरमसमये ।

आसीच्च प्रदेशघन, तत्सस्थान तत्र तस्य ॥

जाने का कारण यह है कि शरीर में आत्मप्रदेशो का जो फँलाव होता है, शरीर से बाहिर निकलने पर वह उस रूप में नहीं रहने पाता है, तीसरा भाग उस में कम पड जाता है। तीसरा भाग कम हो जाने पर सिद्ध जीव के आत्म प्रदेशो का जो आकार होता है, वही आकार मोक्षावस्था में उस सिद्ध जीव का बना रहता है।

मूल पाठ

१ दीह वा ह्रस्व वा ज चरिमभवे ह्वेज्ज सठाण ।

तत्तो तिभागहीण, सिद्धाणोगाहणा भणिया ॥४॥

संस्कृत—व्याख्या

तथा चाह—'दीह वा' गाहा, दीर्घं वा-पञ्च-धनु-शतमान ह्रस्व वा-ह्रस्वद्वयमान, वा शब्दात् मध्यम वा यच्चरमभवे भवेत्सस्थान 'तत्' तस्मात् सस्थानात् त्रिभागहीना त्रिभागेन शुषिरपूरणात् सिद्धानामवगाहना—अवगाहन्ते अस्यामवस्थायामिति अवगाहना स्वावस्थैवेति भावः भणिता-उक्ता जिनैरिति ।

हिन्दी—भावार्थ

चरमशरीरी जीव (मुक्त) का दीर्घ-बडा या ह्रस्व-छोटा जो सस्थान होता है, उस में से तीसरा भाग कम कर देने पर जो शेष रहता है, वह सस्थान सिद्ध जीवो की अवगाहना (आकार) होती है। हार्द यह है कि चरमशरीरी जीव के शरीर में नासिकारध्र, कर्ण-रन्ध्र आदि जो आत्मप्रदेशो से

* दीर्घं वा ह्रस्व वा यत् चरमभवे भवेत् सस्थानम् ।

ततः त्रिभागहीण, सिद्धानामवगाहना भणिता ॥

रहित स्थान रहता है, आत्मा के मुक्त हो जाने पर आत्म-प्रदेश उस स्थान में व्याप्त हो जाते हैं, परिणामस्वरूप शरीर-स्थ उन जीवप्रदेशों का जो आकार रहता है, वह मुक्त दशा में रहने नहीं पाता है। उस में न्यूनता आ जाती है और वह न्यूनता भी शरीराधिष्ठित आत्मप्रदेशों के आकार के तीन भागों में एक भाग की होती है। इसी लिए ऊपर गाथा में कहा गया है कि जोव का दीर्घ या ह्रस्व जो सस्थान होता है, उस में से तीसरा भाग कम कर देने पर अवशिष्ट सस्थान सिद्ध-जीवों में पाया जाता है।

मूल पाठ

तिण्ण सया तेत्तीसा, धणू त्ति भागो य होइ बोधव्वा ।

एसा खलु सिद्धाण, उक्कोसोगाहणा भणिया ॥५॥

चत्तारि य रयणीओ-रयणि-त्ति भागूणिया य बोद्धव्वा ।

एसा खलु सिद्धाण, मज्झिमओगाहणा भणिया ॥६॥

एक्का य होइ रयणी, साहीया अगुलाइ अट्ठ भवे ।

एसा खलु सिद्धाण, जहण्णओगाहणा भणिया ॥७॥

* त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिंशत् धनूषि त्रिभागश्च भवति बोधव्या ।

एषा खलु सिद्धानामुत्कृष्टा अवगाहना भणिता ॥

चतस्रश्च रतनय रत्नित्रिभागो निका च बोधव्या ।

एषा खलु सिद्धाना मध्यमावगाहना भणिता ॥

एका च भवति रत्नि साधिका अगुलानि अष्ट भवेयु ।

एषा खलु सिद्धाना जघन्यावगाहना भणिता ॥

सस्कृत—व्याख्या

अथावगाहनामेवोत्कृष्टादिभेदत आह—‘तिणिण सते’ त्यादि, इय च पञ्चधनु शतमानाना ‘चत्तारि ये’ त्यादि तु सप्तहस्तानाम् ‘एगा ये’ त्यादि द्विहस्तमानानामिति । इय च त्रिविधाऽप्यूर्ध्वमानाश्चित्यान्यथा सप्तहस्तमानाना च उपविष्टाना सिद्धयतामन्यथाऽपि स्यादिति । आक्षेप-परिहारौ पुनरेवमत्र-ननु नाभिकुलकर पञ्चविंशत्यधिकपञ्चधनु शतमान-प्रतीत एव, तद्भायार्पि मरुदेवी तत्प्रमाणैव, ‘उच्चत्त चेव कुलगरेहि सममिति वचनात् अतस्तदवगाहना उत्कृष्टावगाहनातोऽधिकतरा प्राप्नो-तीति कथं न विरोधः ? अत्रोच्यते, यद्यपि उच्चत्त कुलकरतुत्य तद् योषितामित्युक्त, तथापि प्रायिकत्वादस्य स्त्रीणा च प्रारंभो लघुत-रत्वात् पञ्चैव धनु — शतान्यसावभवत्, वृद्धकाले वा सकोचात् पञ्च-धनु शतमाना सा अभवद्, उपविष्टा वाऽमौ सिद्धेति न विरोधः, अथवा बाहुन्यापेक्षमिदमुत्कृष्टावगाहनामान, मरुदेवी त्वाञ्चर्यकल्पत्येवमपि न विरोधः, ननु जघन्यत सप्तहस्तोच्छ्रितानामेव सिद्धिः प्रागुक्ता, तत्कथं जघन्यावगाहना अष्टागुलाधिकहस्तप्रमाणा भवतीति ?, अत्रोच्यते, सप्तहस्तोच्छ्रितेषु सिद्धिरिति तीर्थंकरापेक्ष, तदन्ये तु द्विहस्ता अपि कूर्मपुत्रादयः सिद्धाः अतस्तेषां जघन्याऽवसेया, अन्येत्वाहुः—सप्तहस्तमा-नस्य सर्वातितागोपागस्य सिद्धयतो जघन्यावगाहना स्यादिति ।

हिन्दी—भावार्थ

सिद्धो की उत्कृष्ट अवगाहना तीन सौ तेत्तीस धनुष और एक धनुष का तीसरा भाग मानी जाती है ।

सिद्धों की मध्यम अवगाहना एक हाथ का तीसरा भाग कम चार हाथ बतलाई गई है ।

सिद्धो की जघन्य अवगाहना आठ अगुल अधिक एक हाथ होती है ।

मूल पाठ

* ओगाहणाए सिद्धा भवत्तिभागेण होइ परिहोणा ।
सठाणमणित्थथ, जरामरणविप्पमुक्काण ॥८॥

संस्कृत—व्याख्या

‘ओगाहणाए’ गाहा व्यक्ता, नवरम्, ‘अणित्थथ’ ति अमु प्रकाशमापन्नमित्थ इत्थ तिष्ठतीति इत्थस्थ न इत्थस्थ अनित्थस्थ न केनचिल्लौकिकप्रकारेण स्थितमिति ।

हिन्दी—भावार्थ

जिस अवगाहना (लम्बाई-चौडाई) में सिद्धात्माए विराजमान होती है, वह मनुष्य-जीवन की अवगाहना से तीसरा भाग कम होती है। जरा (वृद्धावस्था) और मरण से रहित सिद्ध-जीवों का सस्थान (आकार) अनिश्चित होता है। लोक में जो सस्थान पाए जाते हैं, उन में से किसी विशेष सस्थान का वहा कोई नियम नहीं होता।

मूल पाठ

जत्थ य एगो सिद्धो तत्थ अणता भवक्खयविप्पमुक्का ।
अण्णोण्णसमवगाढा पुट्ठा सव्वे य लोगन्ते † ॥९॥

* अवगाहनाया सिद्धाः भवन्निभागेन भवतु परिहीना ।
सस्थानमनित्थस्थं, जरा-मरण-विप्रमुक्तानाम् ॥

† यत्र चैक. सिद्धः, तत्रानता भवक्षयविमुक्ताः ।
अन्योन्यसमवगाढाः, स्पृष्टा. सर्वे च लोकान्ते ॥

सस्कृत—व्याख्या

अथैते कि देशभेदेन स्थिता उतान्यथेत्यस्यामाशकायामाह—‘जत्थ य’ गाहा, यत्र च—यत्रैव देशे एक सिद्धो—निर्वृत्तस्तत्र देशे अनन्ता िम् ?—‘भवक्षयविमुक्ता’ इति भवक्षयेन विमुक्ता भवक्षयविमुक्ता’, अनेन स्वेच्छया भवावतरणशक्तिमत्सिद्धव्यवच्छेदमाह । अन्योन्यसमव-गाढा तथाविधाचिन्त्यपरिणामत्वाद्बर्मास्तिकायादिवदिति, स्पृष्टा — लम्ना’ सर्वे च लोकान्ते, अलोकेन प्रनिस्खलितत्वाद्, अनएव ‘लोग्यगे य पइट्टिया’ इत्युक्तमिति ।

हिन्दी—भावार्थ

सिद्ध-जीव भवक्षय (जन्म-मरण का नाश) के कारण मुक्त माने जाते हैं। जहा एक सिद्ध रहता है, वही अनन्त सिद्ध आत्माएँ निवास करती है। ये सब एक-दूसरे का अवगाहन कर रहे हैं, जिन आकाशप्रदेशों पर एक सिद्ध विराजमान है, उन्ही पर अनन्त सिद्ध अवस्थित हैं। अनेक दीपकों के प्रकाश जैसे एक-दूसरे के साथ रहते हैं, वैसे ही अनन्त सिद्ध-जीवों के आत्मप्रदेश परस्पर अवगाहन को प्राप्त हो रहे हैं। इस के अतिरिक्त, सभी सिद्धों के आत्मप्रदेश लोक के अन्त का स्पर्श भी कर रहे हैं।

मूल पाठ

* फुसइ अणते सिद्धे सव्वपएसेहि णियमसो सिद्धो ।
ते वि असखेज्जगुणा देसपएसेहि जे पुट्ठा ॥१०॥

* स्पृष्टात अनन्तान् सिद्धान्, सर्वप्रदेशैः नियमतः सिद्धः ।
तेऽपि अंसख्येयगुणा देशप्रदेशै ये स्पृष्टाः ॥

सस्कृत-व्याख्या

तथा 'फुसइ' गाहा, स्पृशत्यनन्तान्सिद्धान् सर्वप्रदेशैरात्मसम्बन्धिभिः
'णियमसो' चि नियमेन सिद्ध, तथा तेऽप्यसख्येयगुणा वर्तन्ते देशै
प्रदेशैश्च ये स्पृष्टा, केभ्य. ? सर्वप्रदेशस्पृष्टेभ्यः, कथम् ? — सर्वात्म-
प्रदेशैस्तावदनन्ता स्पृष्टा, एक सिद्धावगाहनाबामनन्तानामवगाढत्वात्,
तथैकदेशेनाप्यनन्ता एवमेकैकप्रदेशेनाप्यनन्ता एव, नवर देशो—द्वया-
दिप्रदेशःसमुदाय, प्रदेशस्तु-निर्विभागोऽश इति, सिद्धश्चासख्येयदेश-
प्रदेशात्मक, ततश्च मूलानन्तकमसख्येयैर्देगानन्तकैरसख्यैरेव च प्रदेशानन्त-
कर्तुं णित यथोक्तमेव भवतीति ।

हिन्दी-भावार्थ

सिद्ध अपने आत्मप्रदेशो से अनन्त सिद्धो को स्पर्श किए
हुए है और देश (दो से अधिक) एव प्रदेश (एक आत्मप्रदेश)
द्वारा जो स्पर्श किए हुए है, वे उन से असख्यात गुणा है ।

मूल पाठ

* असरीरा जीवघणा उवउत्ता दसणे य नाणे य ।

सागारमणागार लक्खणमेय तु सिद्धाण ॥११॥

सस्कृत-व्याख्या

अथ सिद्धानेव लक्षणत आह—'असरीरा' गाहा, उक्तार्था, सप्रह-
रूपत्वाच्चास्या न पुनरुक्तत्वमिति ।

हिन्दी-भावार्थ

सिद्ध भगवान अशरीरी है, औदारिक, वैक्रिय आदि पञ्च-

* अशरीरा जीवघना उपयुक्ता दर्शने च ज्ञाने च ।

साकारमनाकार लक्षणमेतत् तु सिद्धानाम् ॥

विद्य शरीरो से रहित है, उन के आत्मप्रदेश सधन हे, पोलार से रहित है, दर्शन और ज्ञान के उपयोग से युक्त है, वे साकारोपयोग-ज्ञानोपयोग वाले है, तथा निराकारोपयोग-दर्शनोपयोग वाले है । यही सिद्धो का स्वरूप है ।

मूल पाठ

* केवलगाणवउत्ता जाणति सव्वभावगुणभावे ।

पासति सव्वओ खलु केवलद्विट्ठोहि अणताहि ॥१२॥

सस्कृत—व्याख्या

‘उवउत्ता दसणे य गाणे य’ त्ति यदुवत्, तत्र ज्ञानदर्शनयोः सर्वविषयतामुपदर्शयन्नाह—‘केवल’ गाहा, केवलज्ञानोपयुक्ताः सन्त न त्वन्त करणोपयुक्ताः, भावतस्तदभावात्, जानन्ति सर्वभावगुण-भावान्, समस्तवस्तुगुणपर्यायान्, तत्र गुणा—सहवर्तिनः, पर्यायास्तु—क्रमवर्तिन इति, तथा पश्यन्ति ‘सर्वत खलु’ सर्वत एवेत्यर्थं केवलदृष्टिभिरनन्ताभि—केवलदर्शनैरनन्तैरित्यर्थं, अनन्तत्वात् सिद्धानामनन्तविषयत्वाद्वा दर्शनस्य केवलदृष्टिभिरनन्ताभिरित्युक्तम्, इह चादौ ज्ञानग्रहण प्रथमतया तदुपयोगस्थाः सिध्यन्तीति ज्ञापनार्थमिति ।

हिन्दी—भावार्थ

सिद्ध भगवान केवल ज्ञानोपयोग से सब पदार्थों के गुण और पर्यायो को जानते है, एव अनन्त केवल-दर्शनोपयोग से सभी पदार्थों के गुण और पर्यायो को देखते है ।

* केवलज्ञानोपयुक्ता जानन्ति सर्वभावगुणभावान् ।

पश्यन्ति सर्वतः खलु केवलदृष्टिभिरनन्ताभि ॥

मूल पाठ

* णवि अत्थि माजुणाण त सोक्ख णवि य सव्वदेवाण ।
ज सिद्धाण सोक्ख अब्बाबाह उवगयाण ॥१३॥

सस्कृत—व्याख्या

अथ सिद्धाना निरुपमसुखता दर्शयितुमाह—‘णवि अत्थि’ गाहा व्यक्ता, नवरम् ‘अब्बाबाह’ ति विविधा आबाधा व्याबाधा तन्निषेधादव्याबाधा तामुपगताना प्राप्तानामिति ।

हिन्दी—भावार्थ

नाना प्रकार की बाधाओं-पीडाओं से रहित सिद्धो को जो सुख प्राप्त है, वह सुख न सर्वदेवताओं का प्राप्त है और न सब मनुष्यों को ।

मूल पाठ

। ज देवाण सोक्ख सव्वद्धापिण्डिय अणतगुण ।
ण य पावइ मुत्तिसुह णताहि वग्गवग्गूहि ॥१४॥

सस्कृत—व्याख्या

कस्मादेवमित्याह—‘ज देवाण ’ गाहा, ‘यतो’ यस्माद्देवानाम्—अनुत्तरसुरान्ताना ‘सौख्य ’ त्रिकालिकसुख सर्वाद्धिया-अतीतानागतवर्त-

* नाप्यस्ति मानुषाणा तत्सौख्यं नापि च सर्वदेवानाम् ।

यत् सिद्धाना सौख्यमव्याबाधामुपगतानाम् ॥

† यद्देवाना सौख्य सर्वाद्धापिण्डितमनन्तगुणम् ।

न च प्राप्नोति मुक्तिसुखमनन्ताभिः वर्गवर्गाभिः ॥

मानकालेन पिण्डित-गुणित सर्वाद्धापिण्डित, तथाऽनन्तगुणमिति, तदेव-
प्रमाण किलासद्भावकल्पनयैकैकाकाशप्रदेशे स्थाप्यते इत्येव सकललोका-
लोकाकाशानन्तप्रदेशपूरणेनानन्त भवति, न च प्राप्नोति मुक्तिमुख—नैव
मुक्तिमुखसमानता लभते, अनन्तानन्तत्वात्सिद्धसुखस्य, किंविध देवसुख-
मित्याह-अनन्ताभिरपि 'वर्गवर्गाभिः' वर्गवर्गैर्वर्गितमपि, तत्र तद्गुणो वर्गो
यथा द्वयोर्वर्गश्चत्वारः तस्यापि वर्गो वर्गवर्गो यथा षोडश एवमनन्तशो
वर्गितमपि । चूर्णिकारस्त्वाह-अनन्तैरपि वर्गवर्गै—खण्डखण्डै खण्डित
सिद्धसुख तदीयानन्तानन्ततमखण्डसमतामपि न लभते इत्यर्थः । ततो
नास्ति तन्मानुषादीना मुख यत्सिद्धानामिति प्रकृतम् ।

हिन्दी—भावार्थ

देवताओं के त्रैकालिक मुख को एकत्रित कर के यदि अनन्त
गुणा किया जाए, तो भी वह मुक्ति-सुख के अनन्तवे भाग की
समता नहीं कर सकता है ।

मूल पाठ

* सिद्धस्स सुहो रासी सव्वद्धापिण्डओ जइ ह्वेज्जा ।
सोऽनन्तवर्गभइओ सव्वागासे ण माएज्जा ॥१५॥

संस्कृत—व्याख्या

सिद्धसुखस्यैवोत्कर्षणाय भङ्गचन्तरेणाह—'सिद्धस्स' गाहा, सिद्धस्य
मुक्तस्य सम्बन्धी 'सुख' सुखाना सत्को 'राशि' समूहः सुखसघात
इत्यर्थः, 'सर्वाद्धापिण्डित' सर्वकालसमयगुणितो यदि भवेद् अनेन चास्य
कल्पनामात्रतामाह—सोऽनन्तवर्गभवतो—अनन्तवर्गपिर्वर्तित सन् समीभूत

*सिद्धस्य सुखो राशिः, सर्वाद्धापिण्डितो यदि भवेद् ।

सोऽनन्तवर्गभक्त, सर्वाकाशे न मायात् ॥

एवेति भावार्थं, 'सर्वाकाशे' लोकालोरूपे न मायात्, अयमत्र भावार्थं - इह किल विशिष्टाह्लाद-रूप सुख गृह्यते, तत्रच यत् आरभ्य शिष्टानां सुख-शब्दप्रवृत्तिस्तमाह्लादमवधीकृत्य एकैकगुणवृद्धितारतम्येन तावदसादाह्लादो विशिष्यते यावदनन्तगुणवृद्ध्या निरतिशयनिष्ठा गतः, ततश्चासावत्यन्तोपमातीतैकान्तिकौत्सुक्यविनिवृत्तिरूपः स्तिमिततममहोदधिकल्पश्चरमाह्लाद एव सदा सिद्धाना भवति, तस्माच्चात् प्रथमाच्चो-ध्वमपान्तरालवर्तिनो ये तारतम्येनाह्लादविशेषास्ते सर्वाकाशप्रदेशराशेरपि भूयासो भवन्तीत्यतः किलोक्त-सव्वागासे ण माएज्ज' ति, अन्यथा प्रतिनियतदेशावस्थितिः कथं तेषामिति सूरयोऽभिदधतीति ।

हिन्दी-भावार्थ

एक सिद्ध के त्रैकालिक सुख को भी एकत्रित करके यदि उसे अनन्त विभागों में विभक्त किया जाए, तो उस का एक भाग भी सारे आकाश में नहीं समा सकता ।

मूल पाठ

* जह नाम कोइ मिच्छो नगरगुणे बहुविहे वियाणतो ।
न चएइ परिकहेउ उवमाए तहि असंतीए ॥१६॥

संस्कृत-व्याख्या

अस्य च वृद्धोक्तस्याधिकृतगाथाविवरणस्यायं भावार्थः— य ए सुखभेदास्ते सिद्ध - सुखपर्यायतया व्यपदिष्टाः, तदपेक्षया तस्य क्रमेणोत्कृष्यमाणस्यानन्ततमस्थानवर्तित्वेनोपचारात्, तद्वाशिश्च किलासद्भावस्थापनया सहस्र समयराशिस्तु शत, सहस्र च शतेन गुणित जात

*यथा नाम कोऽपि म्लेच्छ नगरगणान् बहुविधान् विजानन् ।

न शक्नोति परिकथयित उपमाया तत्र असत्याम् ॥

लक्ष, गुणन च कृत सर्व-समयसम्बन्धिना सुखपर्यायाणा मीलनार्थं, तथाऽनन्तराशिः किल दश तद्वर्गश्च शत, तेनापर्वतित लक्ष जात सहस्रमेव, अत पूज्यैरुक्त समीभूत एवेति भावार्थ इति, यच्चेह सुखराशेर्गुणनमपवर्तन च तदेव सम्भावयाम -यत्र किलानन्तराशिना गुणितेऽपि सति अनन्तवर्गेणानन्तानन्तरूपेणातीव महास्वरूपेणापर्वतिते किञ्चिदवशश्यते, स राशिरतिमहान्, ततश्च सिद्ध-सुखराशिर्महानिति बुद्धिजननार्थं शिष्यस्य तस्यैव वा गणितमार्गे व्युत्पत्तिकरणार्थमिति । अन्धे पुनिरमा गाथामेव व्याख्यान्ति-सिद्धसुखपर्यायिराशिः नभ प्रदेशाग्र-गुणितनभ. प्रदेशाग्र - प्रमाण , तत्परिमाण त्वात्सिद्धसुखपर्यायाणा, सर्वाद्वापिण्डित -सर्वसमयसम्बन्धी सकलित. सन्, स चानन्तै. अनन्तशो इत्यर्थं , वर्गे --वर्गमूलैर्भक्त -अपर्वतित अत्यन्त लघुकृत इत्यर्थं , यथा किल सर्वसमयसम्बन्धी सिद्धसुखराशिः पञ्चषष्टिसहस्राणि पञ्च शतानि षट्त्रिंशच्चेति (६५५३६) स च वर्गेणापर्वतित. सन् जाते द्वे शते षट्पञ्चाशदधिके सोऽपि स्वर्गापर्वतितो जाता षोडश तत्त्वत्वार. ततो द्वावित्येवमतिलघुकृतोऽपि सर्वाकाशे न मायाद्, एतदेवाह 'सव्वागासे न माएज्ज' त्ति । अथ सिद्धसुखस्यानुपमता दृष्टान्तेनाह—'जह' गाह पूर्वार्धं व्यक्त 'न चएइ' त्ति न शक्नोति परिकथयितु नगर-गुणानरण्यमागतोऽरण्यवासि म्लेच्छेभ्यः, कुत इत्याह-उपमाया त्वत्र नगरगुणेष्वरण्ये वाऽसत्यामिति, कथामक पुनरेवम्—

म्लेच्छः कोऽपि महारण्ये, वसति स्म निराकुल. ।
 अन्यदा तत्र भूपालो, दुष्टाश्वेन प्रवेशित ॥१॥
 म्लेच्छेनासौ नृपो दृष्टः, सत्कृतश्च यथोचितम् ।
 प्रापितश्च निज देश, सोऽपि राज्ञा निजं पुरम् ॥२॥
 ममायमुपकारीति, कृतो राज्ञातिगौरवात् ।
 विशिष्टभोगभूतीना, भाजन जन - पूजितः ॥३॥

तत प्रासाद - शृ गेषु, रम्येषु काननेषु च ।
 वृतो विलासिनोसार्थैर्भुक्ते, भोग-सुखान्यसौ ॥४॥
 अन्यदा प्रावृष प्राप्तौ, मेघाडम्बरमण्डितम् ।
 व्योम दृष्ट्वा ध्वनि श्रुत्वा, मेघाना स मनोहरम् ॥५॥
 जातोत्कण्ठो दृढ जातोऽरण्यवासगम प्रति ।
 विसर्जितश्च राज्ञाऽपि प्राप्तोऽरण्यमसौ तत ॥६॥
 पृच्छन्त्यरण्यवासास्त, नगर तात ! कोदृशम् ?
 स स्वभावान् पुर सर्वान्, जानात्येव हि केवलम् ॥७॥
 न शशाक तका (तरा) तेषा, गदितु स कृतोद्यम ।
 वने वने चराणा हि, नास्ति सिद्धोपमा यत (तथा) ॥८॥

हिन्दी-भावार्थ

जैसे कोई म्लेच्छ (अरण्यवासी) नगर के बहुत से गुण।
 को जानता हुआ भी वहा उपमा के अभाव के कारण उन्हे
 कह नही सकता ।

मूल पाठ

* इय सिद्धाण सोक्ख अणोवम णत्थि तस्स ओवम्म ।
 किञ्च विसेसेणेत्तो ओवम्ममिण सुणह वोच्छ ॥१७॥

संस्कृत-व्याख्या

अथ दाष्टान्तिकमह—‘इय’ गाहा, ‘इति’ एवम् अरण्ये नगरगुणा
 इवेत्यर्थ, सिद्धाना सौख्यसनुपम वर्तते, किमित्थमित्याह—यतो नास्ति
 तस्यौपम्य, तथापि बालजनप्रतिपत्तये किञ्चद्विशेषेण।ह—एत्तो’ त्ति

*इति सिद्धाना सौख्यमनुपम नास्ति तस्य औपम्य ।

किञ्चित् विशेषेण इत औपम्यमिद शृणुन, वक्ष्यामि ॥

आर्षत्वादस्य—सिद्धिमुखस्य इतो वाऽनन्तरम् श्रीपथ्य—उपमानम्
(इद) वक्ष्यमाण शृणुत वक्ष्ये इति ।

हिन्दी—भावार्थ

इसी प्रकार सिद्धो का सुख उपमा रहित है । इसकी कोई उपमा नहीं है ।

सिद्धो का सुख उपमा के द्वारा कथन नहीं किया जा सकता है, यह सत्य है, तथापि जनसाधारण के लिए सिद्धो के सुख को दृष्टान्त द्वारा बतलाया जायेगा । उसे सुनो ।

मूल पाठ

* जह सव्वकामगुणिय पुरिसो भोत्तुण भोयण कोइ ।
तण्हाद्दुहाविमुक्को अच्छेज्ज जहा अमियतित्तो ॥१८॥
इय सव्वकालितत्ता अतुल निव्वाणमुवगया सिद्धा ।
सासयमव्वाबाह चिट्ठन्ति सुही सुह पत्ता ॥१९॥

सस्कृत—व्याख्या

‘जह’ गाहा, ‘यथे’ त्युदाहरणोपन्यासार्थ, ‘सर्वकामगुणित’ सजातसमस्तकमनीयगुण, शेष व्यक्तम्, इह च रसनेन्द्रियमेवाधिकृत्येष्ट-विषयप्राप्त्या औत्सुक्यनिवृत्त्या सुखप्रर्शनं सकलेन्द्रियार्थावाप्त्याऽशेषौत्सुक्यनिवृत्त्युपलक्षणार्थम्, अन्यथा बाधान्तरसम्भवात् सुखार्थाभाव इति ।

* यथा सर्वकामगुणितं पुरुषो भुक्त्वा भोजनं कोऽपि ।
तृष्णाक्षुधाविमुक्त आस्ते यथा अमृततृप्तः ॥
इति सर्वकालतृप्ता अतुल निर्वाणमुपगता सिद्धा ।
शाश्वतमव्याबाध तिष्ठन्ति सुखिनः सुखं प्राप्ता ॥

‘इय’ गाहा ‘इय’ एव सर्वकालतृप्ता शाश्वदभावात् अतुल निर्वाणमुगताः सिद्धा, सर्वदा सकलौत्सुक्यनिवृत्ते, यतश्चैवमत ‘शाश्वत’ सवकालभावि ‘अव्याबाध’ व्याबाधावर्जित सुख प्राप्ता सुखिनस्तिष्ठन्तीति योग, सुख प्राप्ता इत्युक्ते सुखिन इत्यनर्थकमिति चेत्, नैव दुःखाभावमात्रमुक्तिसुखनिरासेन वास्तव्यसुखप्रतिपादनार्थत्वादस्य, तथाहि—अशेषदोषक्षयत शाश्वतमव्याबाधसुख प्राप्ता सुखिनः सन्तः तिष्ठन्ति, न तु दुःखाभावमात्रान्विता एवेति ।

हिन्दी-भावार्थ

जैसे कोई पुरुष सब प्रकार के सुन्दर गुणों से युक्त भोजन को खाकर अमृत से तृप्त हुए व्यक्ति के समान पिपासा और क्षुधा से रहित हो जाता है, इसी तरह सदा तृप्त रहने वाले, उपमारहित, निर्वाण (शान्ति) को प्राप्त हुए सिद्ध शाश्वत (नित्य) और बाधा-रहित सुख को प्राप्त करके सुखी बने रहते हैं ।

मूल पाठ

* सिद्धं चि य बुद्धं चि य पारगयं चि य परपरगयं चि ।

उन्मुक्ककम्मकवया अजरा अमरा असगा य ॥२०॥

* सिद्धा इति च बुद्धा इति च पारगता इति च परम्परागता इति ।

उन्मुक्तकर्मकवचा अजरा अमरा असगाश्च ॥

निस्तीर्णसर्वदुःखा जानि-जराभरण-बधन-विमुक्ता ।

अव्याबाध सुखमनुभवन्ति शाश्वत सिद्धा ॥

अतुलसुखसागरगता अव्याबाधमनुप प्राप्ता ।

सर्वामनागतामद्धा तिष्ठन्ति सुखिन सुख प्राप्ता ॥

णिच्छिण्णसव्वदुक्खा जाइजराभरणबध्णविमुक्का ।
 अव्वाबाह सुख अणुहोति सासय सिद्धा ॥२१॥
 अतुलसुहसागरगया अव्वाबाह अणोवम पत्ता ।
 सव्वमणागयमद्ध चिट्ठ ति सुही सुह पत्ता ॥२२॥

सस्कृत—व्याख्या

साम्प्रत वस्तुतः सिद्धपर्यायशब्दान् प्रतिपादयन्नाह — 'सिद्ध ति य' गाहा, सिद्धा इति च तेषां नाम कृतकृत्यत्वाद्, एव बुद्धा इति केवलज्ञानेन विश्वावबोधात्, पारगता इति च भवार्णवपारगमनात्, परपरगय ति—पुण्यबीजसम्यक्त्वज्ञानचरणक्रमप्राप्त्युपाययुक्तत्वात् परम्परया गता परम्परगता उच्यन्ते, उन्मुक्तकर्मकवचा. सकलकर्मवियुक्त्वात्, तथा अजरा वयसोऽभावात्, अमरा आयुषोऽभवात् असगाश्च सकलक्लेशाभावादिति । 'णिच्छिण्ण' गाहा 'अतुल' गाहा व्यक्तार्थे एवेति ।

हिन्दी—भावार्थ

सिद्ध, बुद्ध, पारगत, परम्परगत, उन्मुक्तकर्मकवच, अजर अमर, असग ये सब सिद्ध जीवों के पर्यायवाचक शब्द हैं। सिद्ध कृतकृत्य को कहते हैं। केवल ज्ञान के द्वारा विश्व को जानने वाले बुद्ध कहलाते हैं। ससार रूपी समुद्र से पार हुए को पारगत कहा जाता है। सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति, पुनः सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति, तदनन्तर सम्यक्चारित्र्य की प्राप्ति, इस परम्परा द्वारा जिसने मोक्ष को प्राप्त किया है, उसे परम्परगत कहते हैं। सब प्रकार के कर्मों से रहित उन्मुक्त-कर्म-कवच, जरा आदि अवस्थाओं से रहित अजर, आयु से रहित अमर और सब प्रकार के क्लेशों से रहित असग कहलाते हैं।

सिद्ध सब प्रकार के दुःखो से रहित हो चुके हैं। जन्म, जरा और मृत्यु के बंधन से विमुक्त हैं। बाधरहित और शाश्वत सुख का अनुभव करते हैं।

सिद्ध भगवान् उपमा रहित सुख के सागर में निमग्न हैं। बाधरहित तथा उपमारहित सुख को प्राप्त करके सदा के लिए सुखी बने रहते हैं।

मूल पाठ

*जदत्थि ण लोए त सव्व दुपडोयारं तंजहा—जीवा चेव अजीवा चेव, तसा चेव, थावरा चेव, सजोणिया चेव अजोणिया चेव, साउया चेव, अणाउया चेव, सइन्दिया चेव, अणिन्दिया चेव, सवेयगा चेव, अवेयगा चेव, सरूवी चेव, अरूवी चेव, सपोग्गला चेव अपोग्गला चेव ससार-समावन्नगा चेव, अससारमावन्नगा चेव, सासया चेव, असासया चेव ।

—स्थानागसूत्र स्थान २, उद्देशक १

* यदस्ति लोके तत्सर्वं द्विप्रत्यवतार तद्यथा—जीवाश्चैव अजीवा-
श्चैव, त्रसाश्चैव स्थावराश्चैव, सयोनिकाश्चैव अयोनिकाश्चैव,
सायुष्काश्चैव अनायुष्काश्चैव, सेन्द्रियाश्चैव अनिन्द्रियाश्चैव, सवेद-
काश्चैव अवेदकाश्चैव, सरूपिनश्चैव अरूपिनश्चैव, सपुद्गलाश्चैव
अपुद्गलाश्चैव, संसारसमापन्नकाश्चैव, अससारसमापन्नकाश्चैव, शाश्व-
ताश्चैव अशाश्वताश्चैव ।

सस्कृत-व्याख्या

‘जदत्थी’ त्यादि संहितादिचर्चं पूर्ववत् ‘यद्’ जीवादिक् वस्तु अस्ति विद्यते णमिति वाक्यालङ्कारे, क्वचित् पाठो—‘जदत्थि च ण’ ति तत्रानुस्वार आगमिक च-शब्दः पुनरर्थ एव च अस्य प्रयोगः अस्त्यात्मा-द्विवस्तु-पूर्वाध्ययनप्ररूपितत्वात्, यच्चास्ति ‘लोके’ यद्वास्ति कायात्मके लोक्यते-प्रमीयते इति लोक इति व्युत्पत्त्या लोकालोकरूपे वा तत् सर्वं निरवशेष द्वयोः पदयोः स्थानयोः पञ्चयोर्विवक्षितवस्तुतद्विपर्यय-लक्षणयोरवतारो यस्य तद् द्विपदाघतारमिति । ‘दुपडोयार’ ति क्वचित् पठ्यते, तत्र द्वयोः प्रत्यवतारो यस्य तद् द्विप्रत्यवतारमिति, स्वरूपवत् प्रतिपक्षवच्चेत्यर्थं ‘तद्यथे’ त्युदाहरणोपन्यासे ‘जीवच्चेव, अजीव-वच्चेव ति’ जीवाश्चैवाजीवाश्चैव प्राकृतत्वात् सयुक्तपरत्वेन ह्रस्व, चकारो समुच्चयार्थो एवकारोऽवधारणे, तेन च राश्यन्तरापोहमाह, नो जीवाख्य राश्यन्तरमस्तीति चेव, नैवम् सर्व-निषेधकत्वे नो-शब्दस्य नो जीवशब्देनाजीव एव प्रतीयते, देशनिषेधकत्वे तु जीवदेश एव प्रतीयते न च देशो देशिनोऽत्यन्त व्यतिरिक्त इति जीव एवासाविति, ‘च्चेय’ इति वा एवकारार्थं ‘चिय च्चेय’ एवार्थं इति वचनात् ततश्च जीवा एवेति विवक्षितवस्तु अजीवा एवेति च तत्प्रतिपक्ष इति, एव सर्वत्र अथवा यदस्ति अस्तीति यत् सन्मात्र यदित्यर्थं, तद् द्विपदावतार द्विविधं-जीवाजीवभेदादिति शेष तथैव । अथि त्रसेत्यादिकया नव सूत्र्या जीवत्वस्यैव भेदात् सत्प्रतिपक्षानुपदिश्यति—‘तसे चैवे’ त्यादि तत्र त्रसनाम-कर्मादितस्त्रस्यन्तीति त्रसाः—द्वीन्द्रियादयः स्थावरनामकर्मोदयात् तिष्ठन्त्येवशीलाः स्थावरा. पृथिव्यादयः, सह योन्या—उत्पत्तिस्थानेन सयोनिका—ससारिणस्तद्विपर्ययसंभूताः अयोनिकाः—सिद्धाः सहायुषा वर्तन्त इति सायुषस्तदन्वेषनायुष-सिद्धा, एव सेन्द्रिया—ससारिण, अर्निन्द्रया—सिद्धादयः, सवेदकाः स्त्रीवेदाद्युदयवन्तः अवेदका सिद्धा-

दय', सह रूपेण—मूर्त्या वर्तन इति समासान्ते इन् प्रत्यये सति सरूपिण
सस्थानवर्णादिमन्त सशरीरा इत्यर्थ, न रूपिणोऽरूपिणो—मुक्ता',
सपुद्गला -कर्मादिपुद्गलवन्तो जीवा, सिद्धा, ससार-भव समापन्नका -
आश्रिता ससारसमापन्नका -ससारिणः नदितरे सिद्धाः शाश्वताः सिद्धा
जन्ममरणादिरहितत्वाद्, अशाश्वता —ससारिण. तद्युक्तत्वादिति ।

हिन्दी—भावार्थ

ससार मे जो कुछ है, उसे दो विभागो मे विभक्त किया
जा सकता है । जैसे कि—जीव और अजीव ।

जीव के दो-दो भेद होते है । जैसे कि—त्रस और स्थावर ।
सयोनिक (उत्पत्तिशील) और अयोनिक (उत्पत्तिरहित-सिद्ध),
आयु वाले और आयु रहित (सिद्ध),—सेन्द्रिय इन्द्रियों वाले और
अनिन्द्रिय-इन्द्रियो से रहित (सिद्ध), सवेदक—स्त्री, पुरुष आदि
वेद से युक्त और अवेदक-वेद से रहित (सिद्ध) सरूपी—रूप,
रस, गन्ध आदि से युक्त और अरूपी—रूप, रस आदि से रहित
(सिद्ध), सपुद्गल-पुद्गल युक्त और अपुद्गल-पुद्गल से रहित
(सिद्ध), ससारसमापन्नक-ससार मे रहने वाले और अससार-
समापन्नक-जन्ममरण रूप ससार से विमुक्त (सिद्ध), शाश्वत-
नित्य (सिद्ध) और अशाश्वत-ससारी ।

मूल पाठ

* अत्थि ण भते ! अकम्मस्स गती पण्णायति ?
हन्ता अत्थि । कहन्न् भते ! अकम्मस्स गती पण्णायति ?
गोयमा ! निस्सगयाए निरगणयाए गतिपरिणामेण

*अरित भदन्त ! अकर्मणो गति प्रज्ञायते ? हन्त अस्ति ।

बन्धनछेयणयाए निरधणयाए पुव्वप्पआगेण अकम्मस्स गती पण्णत्ता । कहन्न भते ! निस्सगयाए निरगणयाए गइपरिणामेण बध्नछेयणयाए निरधणयाए, पुव्वप्पओ-गेण अकम्मस्स गती पण्णायति ? से जहानामए—केइ पुरिसे सुक्क तुम्ब निच्छिड्डु निरुवहय ति भाणुपुव्वोए परिकम्मेमाणे २ दब्भेहि य कुसेहि य वेढेइ २ अट्टहि मट्टियालेवेहि लिपइ २ उण्हे दलयति भूति २ सुक्क समाण अत्थाहमतारमपोरसियसि उदगसि पक्खिवेज्जा, से नूण गोयमा ! से तुबे तेसि अट्टण्ह मट्टियालेवेण गुरुयत्ताए भारियत्ताए गुरुसभारियत्ताए सलिलतलम-तिवइत्ता अहे धरणितलपइट्टाणे भवइ ? हता भवइ । अहेण से तुबे अट्टण्ह मट्टियालेवेण परिकखएण धरणितलमतिव-इत्ता उप्पि सलिलतलपइट्टाणे भवइ ? , हन्ता भवइ,

कथन्तु भदन्त ! अकर्मणः गति प्रज्ञायते ? गौतम ! नि सगतया, नीरागतया, गति-परिणामेन, बन्धन—छेदन्तया, निरिन्धनतया, पूर्व-प्रयोगेन अकर्मण गति प्रज्ञप्ता । कथन्तु भदन्त ! नि सगतया, नीरा-गतया, गतिपरिणामेन, बन्धन-छेदनतया, निरिन्धनतया, पूर्वप्रयोगेन अकर्मण. गति. प्रज्ञायते ? तद्यथानाम, कोऽपि पुरुषः शुष्कान् अलावून् निस्त्रिद्वान्, निरुपहतान् इति आनुपूर्व्या परिकर्मयन् २ दर्भेश्च कुशैश्च वेष्टयति २ अष्टभि मृत्तिकालेषुः लिम्पति २ उष्णे ददाति भूयोभूय शुष्के सति अस्तावे अतारे अपौरुषेये उदके प्रक्षिपेत् । तन्नून गौतम ! सा

।बू. तेषामष्टाना मृत्ति कालेषाना गुरुतया भारितया गुरुसभारितया

एव खलु गोयमा ! निस्सगयाए निरगणयाए,
 गइपरिणामेण अकम्मस्स गई पण्णायति । कहन्न भते ।
 बधणछेदणयाए अकम्मस्स गई पण्णत्ता ? गोयमा ?
 से जहानमाए—कलसिबलियाइ वा मुग्गसिबलियाइ वा
 माससिबलियाइ वा सिबलिसिबलियाइ वा एरडमिजि-
 याइ वा उण्हे दिन्ना सुवका समाणो फुडित्ता ण
 एगन्तमत गच्छइ एव खलु गोयमा । ० । कहन्न भन्ते ।
 निरघणयाए अकम्मस्स गति पण्णत्ता ? गोयमा ! से

सलिलतलमतिव्रज्य अघो धरणीतलप्रतिष्ठाना भवति ? हन्त भवति ।
 अघ सा अलाबू अष्टाना मृत्तिकालेपाना परिक्षयेण धरणीतलमतिव्रज्य
 उपरि सलिलतलप्रतिष्ठाना भवति ? हन्त भवति । एव खलु गौतम ।
 नि सगतया, नीरागतया गतिपरिणामेण अकर्मण गति प्रज्ञायते । कहन्तु
 भदन्त । बधनछेदनतया अकर्मणो गति प्रज्ञप्ता ? गौतम ! तद्यथानाम—
 कलायफलिका वा मुद्गफलिका वा मासफलिका वा सिबलिफलि-
 का वा एरण्डफलिका वा उष्णे दत्ता शुष्का सती स्फुटित्वा एकान्तमत
 गच्छति । एव खलु गौतम । ० । कथन्तु भदन्त ! निरिन्धनतया
 अकर्मणो गति प्रज्ञप्ता ? गौतम ! तदद्यथानाम—धूमस्य इन्धनविप्रमुक्तस्य
 ऊर्ध्वं विस्त्रसया निर्व्याघातेन गति प्रवर्तते । एव खलु गौतम । ० । कथन्तु
 भदन्त ! पूर्व-प्रयोगेण अकर्मणो गति प्रज्ञप्ता ? गौतम ! तदद्यथानाम-
 काण्डस्य कोदण्डविप्रमुक्तस्य लक्ष्याभिमुखी निर्व्याघातेन गति प्रवर्तते ।
 एव खलु गौतम ! नि सगतया नीरागतया यावत् पूर्वप्रयोगेण अकर्मणो
 गतिः प्रज्ञप्ता ।

जहानामए-धूमस्स इधणविप्पमुक्कस्स उड्ढं वोसनाए
निव्वाघाएण गती पवत्तति, एव खलु गोयमा ! ०।
कहन्न भते ! पुव्वप्पओगेण अकम्मस्स गती पणत्ता ?,
गोयमा ! से जहानामए कण्डस्स कोदण्डविप्पमुक्कस्स
लक्खाभिमुही निव्वाघाएण गति पवत्तइ । एव खलु
गोयमा ! नीसगयाए निरगणया जाव पुव्वप्पओगेण
अकम्मस्स गती पणत्ता ।

—व्याख्याप्रज्ञप्ति ७ शतक, १ उद्देशक, सू० २६५

संस्कृत—व्याख्या

‘गई पण्णयाइ’ ति गति. प्रज्ञायते अभ्युपगम्यते इति णवत्
‘निस्सगयाए’ ति नि सगतया कर्ममलापगमेन ‘निरगणयाए’ ति
नीरागतया मोहापगमेन ‘गतिपरिणामेण’ ति गतिस्वभावतया अला-
बुद्धव्यस्येव ‘बध्णच्छेयणाए’ ति कर्मबधनच्छेदनेन एण्डफलस्येव
‘निरधणताए’ ति कर्मबधनविमोचनेन धूमस्येव ‘पुव्वप्पओगेण’ ति
सकर्मताया गतिपरिणामवत्त्वेन बाणस्येवेति । एतदेव विवृण्वन्नाह—
‘कहन्न’ मित्यादि, निरुवहय, ति वातादद्यनुपहत ‘दब्भेहि य’ ति
दर्भं समूलैः ‘कुसेहि य’ ति कुशं दर्भैरेव छिन्नमूलै, ‘भूइ भूइ’ ति
भूयोभूय. ‘अत्थाहे’ त्यादि इह मकारौ प्राकृतप्रभावत. अस्ताषेऽत—
एवानवतारेऽतएव अपौरुषेये, अपुरुषप्रमाणे ‘कलसिबलियाइ वा’
कलायाभिधान्यफलिका ‘सिबलि’ ति वृक्षविशेष. ‘एरण्डमिजिया’
एरण्डफलम् । एगतमन्त गच्छइ’ एक इत्येवमन्तो निश्चयो यत्राया-
वेकान्त एक इत्यर्थः । अतस्तमन्त भूभाग गच्छति, इह च बीजस्य
गमनेऽपि (यत्) कलार्यासिबलिकादेरिति यदुक्त तत्तयोरभेदोपचारादिति ।

‘उड्ड वीससाए’ त्ति ऊर्ध्वं विस्समया स्वभावेन ‘निव्वाघाएण’ त्ति कटाद्याच्छादनाभावात् ।

हिन्दो—भावार्थ

हे भदन्त ! कर्म-रहित की गति होती है ?

हा, गौतम ! होती है ।

हे भदन्त ! कर्म-रहित की गति किस प्रकार होती है ?

हे गौतम ! कर्ममल से रहित होने के कारण, राग-द्वेष से रहित होने के कारण, गति-स्वभाव होने के कारण, कर्मबन्धन का नाश होने से, कर्मरूप इन्धन के जल जाने से, पूर्व-प्रयोग* के कारण कर्मरहित जीव की गति होती है ।

कर्म-रहित जीव की गति को एक उदाहरण से समझिए । जैसे कोई पुरुष शुष्क, निर्विच्छद्र, अखण्डित, अलाबू-तुम्बक को क्रमशः दर्भ (दूब) और कुशा से लपेटता है, फिर माटी के आठ लेपो से उसे लीपता है, तदनन्तर उसे धूप में रखकर सुखाता है । उस के अच्छी तरह सूख जाने के पश्चात् अथाह से रहित, न तैरे जा सकने वाले, पुरुष से भी अधिक गहरे पानी में उसे डाल देता है । वह तुम्बक माटी के उन आठ लेपो के गुरु, भारी और अत्यन्त भारी होने के कारण सलिलतल को उल्लघन कर के नीचे पृथ्वी-तल पर जाकर ठहर जाता है किंतु जल के द्वारा माटी के लेपो के उतर जाने पर वह तुम्बक पृथ्वीतल से ऊपर उठता हुआ अन्त में पानी के ऊपर आ

* देखा गया है कि वाण को चलाने के लिए सर्वप्रथम बल लगाया जाता है, उस बल के प्रयोग से फिर वह वाण आगे सरकता है । वैसे ही निष्कर्म आत्मा शरीर से बलपूर्वक निकलता है, उसी बल के प्रयोग से आत्मा में आगे गति होती है, इसी बलप्रयोग को पूर्वप्रयोग कहा जाता है ।

जाता है । इसी प्रकार हे गौतम ! कर्म-मल के दूर होने से, राग द्वेष से रहित हो जाने से और गति-स्वभाव से कर्मरहित जीव की गति होती है ।

हे भदन्त ! कर्म-बन्धन से रहित होने के कारण कर्मरहित जीव की गति किस प्रकार होती है ?

हे गौतम ! जैसे कलाय की फली, मूगी की फली, माष की फली, सिम्बलि की फली और एरण्ड की फली धूप में रख देने पर सूख जाती है, सूख कर फट जाती है, तब उस के बीज एकान्त में जा पड़ते हैं । इसी प्रकार कर्मरहित जीव की गति होती है ।

हे भदन्त ! कर्मरूप इन्धन के जल जाने से कर्मरहित जीव की गति किस प्रकार होती है ?

हे गौतम ! जैसे इन्धन से रहित धूम्र की स्वभाव से ऊर्ध्व गति होती है, उसी प्रकार कर्मरहित जीव की भी गति होती है ।

हे भदन्त ! पूर्व प्रयोग के द्वारा कर्मरहित जीव की गति किस प्रकार होती है ?

हे गौतम ! जैसे धनुष से छोड़े हुए, लक्ष्य की ओर जाने वाले बाण की बेरोकटोर गति होती है । इसी प्रकार कर्मरहित जीव की भी गति होती है ।

मूल पाठ

* ते ण तत्थ सिद्धा हवति सादीया अपज्जवसिया
असरीरा जीवघणा दसणनाणोवउत्ता निट्ठियट्ठा निरेयणा

* ते तत्र सिद्धा भवन्ति सादिका, अपर्यवसिताः अशरीराः,

नीरया णिम्मला वितिमिरा विसुद्धा सासयमणागयद्ध काल चिट्ठति । से केणट्ठेण भते । एव वुच्चइ—ते ण तत्थ सिद्धा भवन्ति सादीया अपज्जवसिया जाव चिट्ठन्ति ? , गोयमा । से जहानामए बीयाण अग्गि-दड्ढाण पुणरवि अकुरुप्पत्ती ण भवइ, एवामेव सिद्धाण कम्मबीए दड्ढे पुणरवि जम्मुप्पत्ती न भवइ, से तेणट्ठेण गोयमा । एव वुच्चइ—ते ण तत्थ सिद्धा भवति सादी-या अपज्जवसिया जाव चिट्ठन्ति ।

—श्रौपपातिक सूत्र सिद्धाधिकार

सस्कृत—व्याख्या

‘ते ण तत्थ सिद्धा हवति’ त्ति ते पूर्वोद्दिष्टविशेषणा मनुष्याः ‘तत्र’ लोकाग्रे निष्ठितार्थाः स्युरिति, अनन च यत्केचन मन्यन्ते, यदुत-
रागादिवासनामुक्त चित्तमेव निरामयम् ।
सदाऽनियतदेशस्थ, सिद्ध इत्यभिधीयते ॥१॥

यच्चापरे मन्यन्ते—

जीवघना, दर्शनज्ञानोपयुक्ताः, निष्ठितार्था, निरेजना, नीरजस, निर्मला, वितिमिरा., विशुद्धा, शाश्वतीमनागताद्धा काल तिष्ठन्ति । तत् केनाथन भदन्त । एवमुच्यते—ते तत्र सिद्धा भवन्ति सादिकाः, अपर्यवसिता यावत्तिष्ठन्ति ? गौतम ! तद्दयथानाम बीजानामग्निदग्धाना पुनरपि अ कुरोत्पत्तिर्न भवति, एवमेव सिद्धाना कर्मबीजे दग्धे पुनरपि जन्मोत्पत्तिर्न भवति । तत्तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—ते तत्र सिद्धा भवन्ति सादिका अपर्यवसिता यावत् तिष्ठन्ति ।

गुणसत्त्वान्तरज्ञानान्निवृत्त-प्रकृति-क्रिया ।

मुक्ता. सर्वत्र तिष्ठन्ति, व्योमवत्तापर्वजिताः ॥१॥

तदनेम निरस्त यच्चोच्यते-सशरीरतायामपि सिद्धत्वप्रतिपादनाय,

यदुत —

अणिमादचष्टविध प्राप्यश्वर्य कृतिन सदा ।

मोदन्ते निवृतात्मानस्तीर्णाः परमदुस्तरम् ॥ १॥

इति तदपाकरणायाह—‘अशरीरा’ अविद्यमान-पञ्चप्रकारशरीराः, तथा ‘जीवघण’ त्ति योगनिरोधकाले रन्ध्रपूरणेन त्रिभागोनाऽवगाहना सन्ता जीवघना इति, ‘दसणनाणोवउत्त’ त्ति ज्ञान साकार, दर्शनम्—अनाकार तयो. क्रमेणोपयुक्ता ये ते तथा ‘निट्टियट्टे’ त्ति निष्ठितार्था—समाप्तसमस्तप्रयोजना. ‘निरेयण’ त्ति निरेजना—निश्चलाः ‘नीरय’ त्ति नीरजसो-बध्यमानकर्मरहिताः नीरया वा—निर्गतौत्सुक्या, ‘निम्मल’ त्ति निर्मला पूर्वबद्धकर्मविनिर्मुक्ताः द्रव्यमलवर्जिता वा ‘वित्तिमिर’ त्ति विगताज्ञाना ‘विसुद्ध’ त्ति कर्मविशुद्धिप्रकर्षमुपगता ‘सासयमणा-गयद्ध काल चिट्ठति’ शाश्वतीम्—अविनश्वरी सिद्धत्वस्याविनाशाद्, अनागताद्धा-भविष्यत्काल तिष्ठन्तीति ‘जम्मुप्पत्ती’ त्ति जन्मना-कर्म-कृतप्रसूत्या उत्पत्तिर्या सा तथा, जन्मग्रहणेन परिणामान्तररूपात्तदुत्पत्ति-भंवतीत्याह, प्रातक्षणमुत्पादव्ययध्रौव्य-युक्तत्वात्सद्भावस्येति ।

हिन्दी—भावार्थ

सिद्ध जीव मुक्ति मे विराजमान है, वे मुक्ति मे जाने की अपेक्षा से सादि है, मुक्ति से कभी वापिस नहीं आते है, इसलिए वे अनन्त है औदारिक, वैक्रिय आदि पञ्चविध शरीरो से रहित हैं, पोलार से रहित आत्मप्रदेश वाले है, दर्शन और ज्ञान रूप उपयोग के धारक है, कृतकृत्य है कम्पन से रहित है, कर्मरूप रज और मल से रहित है, अज्ञान रूप अन्धकार से रहित है,

सब प्रकार की विशुद्धि से युक्त है, अनन्त भविष्यत्काल तक मुक्ति मे विराजमान रहने वाले है ।

हे भगवन् ! मुक्ति मे विराजमान सिद्धो को सादि, अनन्त आदि कहने का क्या कारण है ?

हे गौतम ! जैसे अग्नि से दग्ध बीजो मे पुन अकुरोत्पत्ति नही होने पाती है, इसी प्रकार कर्म-बीज के दग्ध होने पर सिद्धो की भी पुन जन्मोत्पत्ति नही होती है । इसीलिए कहा गया है कि मुक्ति मे विराजमान सिद्ध सादि अनन्त, अशरीरी, जीवघन आदि शब्दों से व्यवहृत होते है ।

मूल पाठ

* जीवा ण भते ! सिज्झमाणा करयमि सघयणे
सिज्झति ? गोयमा । वइरोसभनारायसघयणे
सिज्झति ।

हिन्दो-भावार्थ

गौतम स्वामी बोले—भगवन् ! सिध्यमान (सिद्धि को प्राप्त हो रहे) जीव किस सहनन मे सिद्ध होते है ?

भगवान बोले—गौतम ! वजर्षभनाराच नामक सहनन मे सिद्ध होते है ।

* जीवा भदन्त ! सिध्यन्त' कतरस्मिन् सहनने मिध्यन्ति ? गौतम !
वज्जर्षभनाराचसहनने सिध्यन्ति ।

मूल पाठ

* जीवा ण सिज्झमाणा कयरमि सठाणे सिज्झति ?
गोयमा ! छण्ह सठाणाण अण्णतरे सठाण सिज्झति ।

हिन्दो—भावार्थ

गौतम स्वामी बोले—भगवन् ! सिध्यमान (सिद्ध को प्राप्त हो रहे) जीव किम सस्थान में सिद्ध होते हैं ?

भगवान बोले—गौतम ! छह सस्थानो में से किसी भी एक सस्थान में सिद्ध होते हैं ।

मूल पाठ

† जीवा ण भते ! सिज्झमाणा कयरम्मि उच्चत्ते
सिज्झन्ति ? गोयमा ! जहण्णेण सत्तरयणीओ उक्को-
सेण पञ्चधणुस्सए सिज्झन्ति ।

सस्कृत—व्याख्या

‘जहण्णण सत्तरयणीए’ त्ति सप्तहस्ते उच्चत्त्वे सिध्यन्ति महा-
वीरवन्, ‘उक्कोसेण पचधणुस्सए’ त्ति ऋषभस्वामिबद् एतच्च
द्वयमपि तीर्थंकरापेक्षयोक्तम्, अतो द्विहस्तप्रमाणेन कूर्मापुत्रेण न व्याभ-
चारो, न वा मरुदेव्या सातिरेकपञ्चधनुःशतप्रमाणयेति ।

* जीवा भदन्त सिध्यन्त. कतरस्मिन् सस्थाने सिध्यन्ति ? गौतम !
षण्णा सस्थानानामन्यतरस्मिन् सस्थाने सिध्यन्ति ।

† जीवा भदन्त ! सिध्यन्तः कतरस्मिन् ऊच्चत्त्वे सिध्यन्ति ? गौतम !
जघन्येन सप्तरत्नयः, उत्कर्षेण पञ्चधनुस्सते सिध्यन्ति ।

हिन्दी—भावार्थ

गौतम स्वामी बोले—भगवन् ! सिध्यमान जीव कितनी ऊचाई मे सिद्ध होते है ?

भगवान बोले- गौतम ! जघन्य (कम से कम) सात हाथ की ऊचाई मे और उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) पाच सौ धनुष की ऊचाई मे जीव सिद्ध होते है ।

मूल पाठ

* जीवाण भते । सिञ्जभाणा कयरम्मि आउए सिञ्जन्ति? गोयमा । जहण्णेण साइरेगट्टवासाउ उक्को-सेण पुव्वकोडियाउए सिञ्जन्ति ।

सस्कृत—व्याख्या

‘साइरेगट्टवासाउए’ त्ति सातिरेकाण्यष्टौ वर्षाणि यत्र तत्तथा तच्च तदायुश्चेति तत्र सातिरेकाष्टवर्षायुषि, तत्र किलाष्टवर्षवयाश्चरण प्रतिपद्यते, ततो वर्षे अतिगते केवलज्ञानमुत्पादय सिध्यतीति । ‘उक्को-सेण पुव्वकोडाउए’ त्ति पूर्वकोटचायुर्नरं पूर्वकोटचा अन्ते सिध्यतीति न परत ।

हिन्दी—भावार्थ

गौतम स्वामी बोले—भगवन् ! सिध्यमान जीव कितनी आयु मे सिद्ध होते है ?

भगवान बोले—गौतम ! जघन्य कुछ अधिक आठ वर्ष की

* जीवा भदन्त ! सिध्यन्तः कतरस्मिन् आयुषि सिध्यन्ति? गौतम ! जघन्येन सातिरेकाष्टवर्षायुष्का उत्कर्षेण पूर्वकोटिकायुष्का सिध्यन्ति ।

आयु वाले तथा उत्कृष्ट करोड पूर्व की आयु वाले जीव सिद्ध होते हैं ।

मूल पाठ

* अत्थि ण भते ! इमीसे रयणप्पहाए पुढवीए अहे सिद्धा परिवसन्ति ? णो इणट्टे समट्टे, एव जाव अहे सत्तमाए ।

संस्कृत—व्याख्या

‘ते ण तत्थ सिद्धा भवती’ ति प्राक्तनवचनाद् यद्यपि लोकाग्र सिद्धाना स्थानमित्यवसीयते तथापि मुग्धविनेयस्य कल्पितत्रिविधलोकाग्रनिरासनी निरुपचरितलोकाग्रस्वरूपविशेषावबोधाय प्रश्नात्तरसूत्रमाह— ‘अत्थि ण’ मित्यादि व्यक्त, नवर यदिद रत्नप्रभाया अक्षस्तदेव लोकाग्रमिति तत्र सिद्धा. परिवसन्तीति प्रश्नः, तत्रोत्तर—नायमर्थं समर्थं इति, एव सर्वत्र ।

हिन्दी—भावार्थ

गौतम स्वामी बोले—भगवन् ! क्या इस रत्नप्रभा नामक पृथ्वी (नरक) के नीचे सिद्ध रहते हैं ?

भगवान् बोले—गौतम ! रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे सिद्ध नहीं रहते हैं । इसी प्रकार यावत् सातवी पृथ्वी के नीचे भी सिद्ध नहीं रहते हैं ।

* अस्ति भदन्त ! अस्माः रत्नप्रभायाः पृथिव्या. अक्ष. सिद्धा. परिवसन्ति ? नायमर्थं. समर्थः, एव यावत् अक्ष. सप्तम्याः ।

* अत्थि ण भते । सोहम्मस्स कप्पस्स अहे सिद्धा परिवसन्ति ? णो इणट्ठे समट्ठे, एव सव्वेसि पुच्छा । ईसाण स्स, सणकुमारस्स जाव अच्चुयस्स गेविज्जविमाणेण अणुत्तरविमाणेण ।

हिन्दी-भावार्थ

गौतम स्वामी ने पूछा भगवन् । क्या सिद्ध सौधर्म नामक प्रथम देवलोक के नीचे रहते हैं ?

भगवान ने कहा—गौतम । नहीं रहते हैं ।

जिस प्रकार प्रथम देवलोक के सम्बन्ध में पूछा की गई है, उसी प्रकार ईशान, सनत्कुमार यावत् अच्युत, श्रेयैक विमान तथा अनुत्तर विमानों के सम्बन्ध में भी पूछा की गई और भगवान ने सब के सम्बन्ध में “नहीं रहते हैं” यही उत्तर दिया ।

मूल पाठ

‡ अत्थि भते ! ईसीपब्भाराए पुढवोए अहे सिद्धा परिवसन्ति ? णो इणट्ठ समट्ठे ।

* अस्ति भदन्त । सौधर्मस्य कल्पस्य अथ सिद्धा परिवसन्ति ? नायमर्थं समर्थं , एव सर्वेषां पुच्छा । ईशानस्य, सनत्कुमारस्य यावदच्युतस्य, श्रेयैकविमानानाम्, अनुत्तरविमानानाम् ।

‡ अस्ति भदन्त ! ईषत्प्राग्भाराया पृथ्व्या अथ सिद्धा परिवसन्ति ? नायमर्थः समर्थः ।

हिन्दी-भावार्थ

गौतम स्वामी बोले—भगवन् ! ईषत्प्राग्भारा (सिद्धशिला) के नीचे क्या सिद्ध रहते हैं ?

भगवान बोले—गौतम ! नहीं रहते हैं ।

मूल पाठ

* से कहि खाइ ण भते । सिद्धा परिवसन्ति ?

गोयमा ! इमीसे रयणप्पहाए पुढवीए बहुसम-
रमाणज्जाओ भूमिभागाओ उड्ढ चदिम-सूररय-ग्गह-
गण-णक्खत्त-तारा-भवणाओ बहूइ जोयणसयाइ बहूइ
जोयणसहस्साइ बहूइ जोयणसयसहस्साइ बहूओ
जोयणकोडीओ बहूओ जोयणकोडाकोडीओ उड्ढतर
उप्पइत्ता सोहम्मीसाण-सणकुमार--माहिद--बभ--लत्तग-
महासुक्क--सहस्सार--आणय--पाणय--आरणच्चुय तिण्णि
य अट्टारे गेविज्जविमाणावासए वीइवइत्ता विजय-
वेजयत--जयन्त--अपराजिय--सव्वट्ठसिद्धस्स य महावि-
माणस्स सव्व-उप-रिल्लाओ थूभियग्गाओ दुवालस-
जोयणाइ अबाहाए एत्थ ण ईसीपब्भारा णाम पुढवी
पणत्ता पणयालीस जोयण-सय-सहस्साइ आयाम-विक्ख-

* अथ कुत्र भदन्त ! सिद्धा परिवसन्ति ? गौतम ! अस्य रत्नप्रभा-
या पृथिव्या बहुसमरमणीयाद् भूमिभागाद् ऊर्ध्वं चन्द्रमस-सूर्य-ग्रह-गण-

भेण एगा जोयणकोडी बायालीस सयसहस्साइ तीसं
च सहस्साइ दोण्णी य अउणापण्णे जोयणसए किच्चि-
विसेसाहिए परिरएण, ईसिपब्भारा य ण पुढवीए बहु-
मज्झदेसभाए अट्ट जोयणिए खेत्ते अट्ट जोयणाइ
बःहल्लेण, तथाणतर च ण मायाए-मायाए पडिहाएमाणी-
पडिहाएमाणी सव्वेसु चरिमपेरतेसु मच्छियपत्ताओ तणु-
यतरा अगुलस्स असखेज्जइभाग बाहल्लेण पण्णत्ता ।

ईसीपब्भाराए ण पुढवीए दुवालस णामधेज्जा
पण्णत्ता तजहा—ईसी इ वा, इसीपब्भारा इ वा, तणू
इ वा, तणू-तणू इ वा, सिद्धी इ वा, सिद्धालए इ वा,
मुत्ति इ वा, मुत्तालए इ वा, लोयग्गे इ वा, लोयग्गथू-
भिया इ वा, लोयग्गपडिवुज्झणा इ वा, सव्व-पाण-भूय-
जीव-सत्त-सुहावहा इ वा ।

नक्षत्र-तारा-भवनेभ्यो बहूनि योजनशतानि बहूनि योजन-सहस्राणि,
बहूनि योजन-शत-सहस्राणि, बह्वी योजनकोटीः, बह्वी योजनकोटाकोटी
ऊर्ध्वतरमुत्पत्य सौधर्मेशान-सनत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्म-लान्तक-महाशुक्र-
सहस्रार-आनत-प्राणत-आरणाच्युतान् त्रीणि च अष्टादश त्रैवेयक-
विमानावास-शतानि व्यतिव्रज्य विजय-वैजयन्त-जयन्त-अपराजित-
सर्वार्थसिद्धस्य च महाविमानस्य सर्वोपरितनायाः स्तूपिकाग्राया द्वादश-
योजनानि अबाधया अत्र ईषत्प्राग्भारा नाम पृथ्वी प्रज्ञप्ता, पञ्चचत्वा-
रिंशद्योजन-शतसहस्राणि आयामविष्कभेण एका योजनकोटिः द्विचत्वा-

ईसीपढभारा ण पुढवी सेया सख-तल-विमल-
 सोल्लिय-मुणाल-दग-रय-तुसार-गोकखोर-हार-
 वण्णा उत्ताणय-छत्त-सठाण-सठिया सव्वज्जुण-
 सुवण्णमई अच्छा सण्हा लण्हा घट्टा मट्टा णीरया
 णिम्मला णिप्पका णिक्ककडच्छाया समरीचिया
 सुप्पभा पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा,
 ईसीपढभाराए ण पुढवीए सीयाए जोयणमि लोगते,
 तस्स जोयणस्स जे से उवरिल्ले गाउए, तस्स ण गाउ-
 अस्स जे से उवरिल्ले छभागिए, तत्थ ण सिद्धा भगवतो

रिशत् शतसहस्राणि त्रिशच्च सहस्राणि द्वे च एकोनपञ्चाशद्
 योजनशतानि किञ्चिद्विशेषाधिकानि परिरयेण ईषत्प्राग्भाराया पृथिव्या
 बहुमध्यदेशभागे अष्टयोजनके क्षेत्रे अष्टयोजनानि बाहल्येन तदानन्तर च
 मात्रया-मात्रया परिहीयमाना-परिहीयमाना सर्वेषु चरमपर्यन्तेषु मक्षिका-
 पत्रात् तनुकतरा अगुलस्यासख्येयभागा बाहल्येन प्रज्ञप्ता ।

ईषत्प्राग्भाराया. पृथिव्या द्वादश नामधेयानि प्रज्ञप्नानि तद्यथा-ईषद्
 इति वा, ईषत्प्राग्भारा इति वा, तनू इति वा, तनूतनू इति वा, सिद्ध
 इति वा, सिद्धालय इति वा, मुक्तिरिति वा, मुक्तालय इति वा लोका-
 ग्रमिति वा, लोकाग्रस्तूपिका इति वा, लोकाग्रप्रतिबोधना इति वा,
 सर्व-प्राण-भूत-जीव-सत्त्व-सुखावहा इति वा । ईषत्प्राग्भारा पृथिवी
 श्वेता शखतलविमल-सोल्लिय-मृणाल-दक-रजः-तुषार-गोक्षीर-हारवर्णा,
 उत्तान-छत्र-संस्थानसंस्थिता सर्वाङ्गनसुवर्णमयी अच्छा, श्लक्ष्णा, मसृणा,
 घृष्टा, मृष्टा, नीरजा, निर्मला, निष्पका, निष्ककट-च्छाया, समरीचिका,

सादीया अपज्जवसिया अणेग—जाइ—जरा—मरण—जोणि-
वेयण--ससारकलकली-भावपुण्णभव--गम्भ-वास-वसही--
पवच-समइक्कता सामयमणागयमद्ध चिट्ठन्ति । मू०४३।

—अपैपातिक सूत्र सिद्धाधिकार

सम्कृत—व्याख्या

‘से कहि खाइ ण भते ।’ त्ति इत्यत्र सेत्ति-तत कहि ति-क्व
देशे खाइ ण ति—देशमाषया वाक्यालकारे ‘बहुसमे’ त्यादि बहुसम-
त्वेन रमणीयो य स तथा तस्मात् ‘अवाहाए’ त्ति अवाधया-अन्तरेण
‘ईसिपम्भार’ त्ति ईषद्—अल्पो न रत्नप्रभादिपृथिव्या इव महान
प्राग्भारो-महत्त्व यस्या सा ईषत्प्राग्भारा । नामधेयानि व्यक्तान्येव, नवर
‘ईसित्ति’ वा-ईषत्-अल्पा पृथिव्यन्तरापेक्षया, इति शब्द उपप्रदर्शने,
वा शब्दा विकल्पे, ‘लोग्गपडिबुज्झणा इ व’ त्ति लोकाग्रमिति
प्रतिबुध्यते अवसीयते यया सा तथा, ‘सव्व-पाण-भूय-जीव-सत्त-
सुहावह’त्ति इह प्राणा-द्वीन्द्रियादय भूता-वनस्पतय जीवा-पञ्चेन्द्रिया
पृथिव्यादयस्तु—सत्त्वः एतेषा च पृथिव्यादिनया तत्रोत्पन्नाना सा
सुखावहा शीतादिदुःखहेतूनामभावादिति, ‘सेय’ त्ति श्वेता, एतदेवाह
-‘आयसतल--विमल-सोल्लिय--मुणाल--दग-रय-तुसार--गोक्खीर-

सुप्रभा, प्रासादीया, दर्शनीया, अभिरूपा प्रतिरूपा, ईषत्प्राग्भाराया
पृथिव्याः श्वेताया योजने लोकान्त, तस्य योजनस्य यत्तद् उपरितन
गव्यत, तस्य गव्यूतस्य य स उपरितन षड्भागिकः, तत्र सिद्धा भगवन्त
सादिका अपर्यवसिना अनेक-जाति-जरा-मरण-योनि-वेदना-ससार-
कलकलीभाव-पुनर्भव-गर्भवास-वसति-प्रपचसमतिक्रान्ता, शाश्वतीमना-
गतामद्धा तिष्ठन्ति ।

हार-वर्ण' त्ति व्यक्तमेव, नवरम्, आदर्शतल-दर्पणतल क्वद्विच्छेद-
तलमिति पाठ, आदर्शतलमिव विमला या सा तथा, 'सोल्लिय' त्ति
कुसुमविशेष, 'सव्वज्जुणसुवण्णमई' त्ति अर्जुनसुवर्ण-श्वेतकाञ्चन,
अच्छा आकाशस्फटिकमिव 'सण्ह' त्ति श्लक्ष्णपरमाणुस्कन्धनिष्पन्ना
श्लक्ष्णतन्तुनिष्पन्नपटवत् 'लण्ह' त्ति मसृणा घुण्टितपटवत् 'घट्ट' त्ति
घृष्टेव घृष्टा खरशानया पाषाणप्रतिमावत् 'मट्ट' त्ति मृष्टेव मृष्टा
सुकुमारशानया प्रतिमेव शोधिता वा प्रमार्जनिकयेव, अत एव 'णीरय'
त्ति नीरजा —रजोरहिता 'णिम्मला' कठिनमलरहिता 'णिप्पक' त्ति
निष्पका-आर्द्रमलरहिता अकलका वा 'णिवककडच्छाय' त्ति निष्कङ्क-
टा-निष्कवचा निरावरणेत्यर्थ. छाया-शोभा यस्या सा तथा 'अकलक-
शोभा वा, 'समरीच्चिय' त्ति समरीचिका-किरणयुक्ता, अतएव
'सुप्पभ' त्ति सुष्ठु प्रकर्षेण च भाति-शोभते या सा सुप्रभेति 'पासादीय'
त्ति प्रासादो-मन प्रमोद प्रयोजन यस्या. सा प्रासादीया 'दरसणिज्ज'
त्ति दर्शनाय-चक्षुष्यपाराय हिता दर्शनीया, ता पश्यच्चक्षुर्न श्राम्यती-
त्यर्थः, 'अभिरूव' त्ति अभिमत रूप यस्याः सा अभिरूपा, कमनीयेत्यर्थः,
'पडिरूव' त्ति द्रष्टारं द्रष्टार प्रति रूप यस्या सा प्रतिरूपा, 'जोयणमि
लोगते' त्ति इह योजनमुत्सेधागुलयोजनमवसेय, तदीयस्यैव हि क्रोशषड-
भागस्य सत्रिभागस्त्रयस्त्रिंशदधिकधनु शतत्रयीप्रमाणत्वादिति, 'अणेग-
जाइ--जरा--मरण--जोणिवेयण' अनेकजातिजरामरणप्रधानयोनिषु
दना यत्र स तथा त 'ससार-कलकलीभाव-पुण्णभव-गब्भ-वास-
वसही-पवचमइक्कता' ससारे कलङ्कलीभावेन असमञ्जसत्वेन ये
पुनर्भवाः—पौन पुन्येनोत्पादा गर्भवासवसतयश्च-गर्भाश्रयनिवासास्तासा
यः प्रपचो—विस्तर, स तथा तर्मात्क्रान्ता.-निस्तीर्णा, पाठान्तरमिदम्,
"—अणेग-जाइ-जरा-मरण-जोणि--ससार--कलकली--भाव-पुण-
वभवगब्भवास-वसहिपवचसमइक्कता' त्ति अनेक-जाति-जरामरण-प्रधाना

यानयो यत्र स तथा स चासौ ससारश्चेति समास , तत्र कलङ्गलीभावेन
 य पुनर्भवेन—पुनःपुनरुत्पत्त्या गर्भवासवसतीना प्रपञ्चस्त समतिक्रान्ता
 ये ते तथा । (अभयदेवसूरिकृत-वृत्ति)

हिन्दी—भावार्थ

श्री गौतम स्वामी ने पूछा—हे भगवन् ! सिद्ध कहा पर
 रहते हैं ?

भगवान बोले—हे गौतम ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के अत्यन्त
 समतल एव रमणीय भूमिभाग से ऊपर चन्द्रमा, सूर्य, ग्रहगण,
 नक्षत्र और ताराओं के भवन हैं । उन से सैकड़ो, हजारो,
 लाखो, करोड़ो, कोटाकोटियो योजन ऊपर जाकर सौधर्म,
 ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार,
 आनत, प्राणत, आरण, अच्युत नामक देवलोक है । इन से ऊपर
 तीन सौ १८ अवेयक विमान हैं । इन से उपर विजय, वैजयन्त,
 जयन्त, अपराजित, सर्वार्थसिद्ध ये महाविमान हैं । सर्वार्द्धसिद्ध
 महाविमान की ऊपर की स्तूपिका के अग्रभाग से १२ योजन की
 दूरी पर ईषत्प्राग्भारा (सिद्धशिला) नामक पृथ्वी है, जो कि ४५
 लाख योजन की लम्बी और इतनी ही चौड़ी है । इस की परिधि
 (घेरा) एक करोड बयालीस लाख, तीस हजार दो सौ उनचास
 योजन से कुछ अधिक है । ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के सममध्यप्रदेश
 में आठ योजन का क्षेत्र आठ योजन की मोटाई वाला है । इस
 से आगे क्रमशः थोड़ी-थोड़ी हीन होती हुई अन्त में मक्षिका
 के पख से भी अधिक तनुतर (सूक्ष्मतर) तथा अगुल के
 असख्यातवें भाग जितनी इस की मोटाई रह जाती है ।

ईषत्प्राग्भारा पृथिवी को १२ नामो से व्यवहृत किया
 जाता है । वे नाम इस प्रकार हैं —

१. ईषत्, २ ईषत्प्राग्भारा, ३ तनू,
 ४. तनूतनू, ५ सिद्धि, ६ सिद्धालय,
 ७ मुक्ति, ८ मुक्तालय, ९ लोकाग्र
 १० लोकाग्रस्तूपिका, ११ लोकाग्रप्रनिबोधना,
 १२ सर्वप्रागभूत-जीव-मत्त्व-सुखावहा ।

ईषत्प्राग्भारा पृथिवी श्वेत है, शखतल के समान विमल-निर्मल है, सोल्लिय (पुष्पविशेष), मृणाल-कमलनाल, दकरज-पानी की भाग, तुषार-ओसविन्दु, गोक्षीर-गाय का दूध, हार (मोतियों का हार) के समान श्वेत वर्ण वाली है। छत्र को उलटा करके रखने से उस का जो आकार बनता है, वही आकार ईषत्प्राग्भारा पृथिवी का होता है। ईषत्प्राग्भारा पृथिवी सारी की सारी श्वेत सुवर्णमयी है, वह स्वच्छ है, श्लक्ष्ण-चिकनी है, मसृण है—इस्तरी किए हुए वस्त्र के समान कोमल है, घृष्ट है—घिसे हुए पाषाण के समान स्पर्श वाली है, मृष्ट है—चीकनी है, चमकदार है, नीरज है—धूलिरहित है, निर्मल है—मलरहित है, निष्पक है, कीचड-रहित है।

ईषत्प्राग्भारा पृथिवी स्निग्धछाया वाली है, किरणों से युक्त है, अच्छा—प्रभा, कान्ति वाली है, चित्ताकर्षक है, दर्शनयोग्य है, सुन्दर है, अत्यन्त सुन्दर है।

ईषत्प्राग्भारा पृथिवी के एक योजन ऊपर लोकान्त है। उस योजन के ऊपर के कोस के छठे भाग में सिद्ध भगवान विराजमान है। वे सिद्ध सादि, अनन्त, जन्म, जरा, मृत्यु और योनि (उत्पत्तिस्थान) की अनेकविध वेदना से रहित है। ससार के कलकलीभाव (विषमता), पुनर्भव-पुनः पुनः उत्पन्न होना,

गर्भावास-गर्भ मे निवास करना, इन सब प्रपचो से वे रहित है । सिद्ध भगवान भविष्यत्काल मे सदा के लिए मोक्ष मे विराजमान रहेंगे ।

मूल पाठ

* अत्थि एग ध्रुव ठाण, लीगग्गमि दुरारुह ।

जत्थ नत्थि जरा मच्चू, वाहिणो वेयणा तथा ॥

— उत्तराध्ययन सूत्र अ० २३/८१

संस्कृत—व्याख्या

अस्त्येकमद्वितीय ध्रुव शाश्वतं स्थान लोकाग्रे 'दुरारुह' ति दु खे-
नाहृतेऽध्यास्यते इति दुरारोहम् । दुरापेणैव सम्पद्दर्शनादित्रयेन तस्य
प्राप्यत्वान् । यत्र न मन्ति जराऽऽदीनि प्रतीतानि, वेदना शरीरादिपीडा
ततश्च व्याध्यभावत क्षेमत्व, जरा-मरणाभावतः शिवत्व, वेदनाऽभावतो-
ऽनाबाधत्वमुक्तमिति यथायोग भावनीयम् ।

हिन्दी—भावार्थ

लोक के अग्रभाग मे एक ध्रुव-नित्य स्थान है, जिस पर
आरोहण करना अत्यन्त कठिन है । उस स्थान मे अवस्थित
जीवो को न जरा-बुढापा है, न मृत्यु है, न व्याधिया है और
न नाही वेदनाए होती है ।

* अस्त्येकं ध्रुव स्थान, लोकाग्रे दुरारोह ।

यत्र नास्ति जरा मृत्यु, व्याधयो वेदनास्तथा ॥

मूल पाठ

* निव्वाण ति अबाह ति सिद्धी लोगगमेव य ।
 खेम सिव अणावाह, ज तरति महेसिणो ॥

संस्कृत—व्याख्या

निर्वाणं कर्माग्निविध्यापनाच्छीतीभवन्त्यस्मिन्निति निर्वाण इति शब्द स्वरूपप्रदर्शको यत्रापि नास्ति तत्राग्यध्याहार्यं तत 'उच्यते इत्यध्याहृत्य' निर्वाणमिति यदुच्यते, अबाधमिति यदुच्यते, सिद्धिरिति यदुच्यते, लोकाग्रमिति यदुच्यते इति व्याख्येयम् । खेम शिवमनाबाधमिति च प्राग्वत् । यादति यत् स्थान 'विभक्तिव्यत्ययाद्' यत्र स्थाने वा तरन्ति प्लवन्ते गच्छन्तीत्यर्थो महर्षयो महामुनयः ।

हिन्दी—भावार्थ

जिस स्थान को महर्षि लोग प्राप्त करते हैं, उस स्थान को निर्वाण, अबाध, सिद्ध, लोकाग्र, खेम, शिव और अनाबाध कहा जाता है ।

मूल पाठ

‡ त ठाण सासयवास, लोगगमि दुरारुह ।
 ज सम्पत्ता न सोयन्ति, भवोहन्तकरा मुणी ॥

—उत्तराध्ययन अ. २३-८४

* निर्वाणमिति अबाधमिति सिद्धिः लोकाग्रमेव च ।

खेम शिवमनाबाध, यत्तरन्ति महर्षयः ॥

‡ तत्स्थानं शाश्वतवासं, लोकाग्रे दुरारोहं ।

यत् सम्प्राप्ता न शोचन्ति, भवोघान्तकरा मुनयः ॥

संस्कृत-व्याख्या

नत् स्थानम् 'उक्तमिति प्रक्रमः' । 'बिन्दोरलाक्षणिकत्वात्' शाश्वतवास नित्यावस्थित ध्रुवमिति यावत् । लोकाग्रे दुरारूहम् 'उप-लक्षणत्वाज्जरादयभाववच्च' यत् सम्प्राप्ता न शोचन्ते । कीदृशा-सन्त' ? इत्याह-भवा नारकादयस्तेषामोष पुन पुनर्भावरूप प्रवाहस्य-स्यान्तकरा पर्यन्तविधायिनो भवौघान्तकरा मुनय इति ।

हिन्दी-भावार्थ

उस स्थान में जीव सदा के लिये रहते हैं, वह स्थान लोक के अग्रभाग पर स्थित है, दुरारोह है, उस पर आरोहण करना कठिन है, उस स्थान को प्राप्त करने वाले जीव कभी शोक को प्राप्त नहीं होते हैं तथा भवपरम्परा का अन्त करने वाले मुनि उसे प्राप्त करते हैं ।

मूल पाठ

* सिद्धा णं भन्ते ! किं वड्ढति, हायति, अवट्ठिया ?
गोयमा ! सिद्धा वड्ढति, णो हायति, अवट्ठिया ।

—भगवतीसूत्र शतक ५. उ० ८

हिन्दी-भावार्थ

भगवान् गौतम बोले-भगवन् ! क्या सिद्ध बढते हैं ? घटते हैं अथवा अवस्थित रहते हैं, अर्थात् न बढते हैं और न घटते हैं ?

भगवान् महावीर बोले-गौतम ! सिद्ध बढते हैं, घटते नहीं

* सिद्धा भदन्त ! किं वर्धन्ते, हीयन्ते, अवस्थिताः ?

गौतम ! सिद्धा वर्धन्ते, नो हीयन्ते, अवस्थिताः ।

और अवस्थित भी रहते हैं ।

मूल पाठ

* सिद्धा ण भते ! केवइय काल वड्ढति ?

गोयमा ! जहण्णेण एक्क समय, उक्कोसेण अट्ठसमया ।

हिन्दी—भावार्थ

भगवान गौतम बोले—भगवन् ! सिद्ध कितने काल तक बढ़ते हैं ?

भगवान महावीर बोले—गौतम ! कम से कम एक समय तक और अधिक से अधिक आठ समय तक ।

मूल पाठ

† सिद्धा ण भते ! केवइय काल अवट्ठिया ?

गोयमा ! जहण्णेण एक्क समय, उक्कोसेण छम्मासा ।

हिन्दी—भावार्थ

भगवान गौतम बोले—भगवन् ! सिद्ध कितने काल तक अवस्थित रहते हैं ?

भगवान महावीर बोले—गौतम ! कम से कम एक समय तक और अधिक से अधिक छह मास तक ।

* सिद्धा भदन्त ! कियन्त काल वधन्ते ?

गौतम ! जघन्येन एक समयमुत्कर्षेण अष्ट समयान् ।

† सिद्धा भदन्त ! कियन्त कालभवस्थिताः ?

गौतम ! जघन्येन एकं समयमुत्कर्षेण षण्मासान् ।

मूल पाठ

* सिद्धा ण भते । कि सोवचया, सावचया, सोवच्चय-
सावचया, णिरुवचयणिरवचया ?

गोयमा । सिद्धा सोवचया, णो सावचया, णो
सोवच्चयसावचया, णिरुवचयणिरवचया ।

हिन्दी-भावार्थ

भगवान गौतम बोले—भगवन् ! सिद्ध क्या सोपचय—वृद्धि
वाले है, सापचय है—हानि वाले है, सोपचयसापचय है—वृद्धि
और हानि वाले है, तथा निरुपचय-निरपचय है—वृद्धि तथा
हानि वाले नहीं है ?

भगवान महावीर बोले—गौतम ! सिद्ध सोपचय है, सा-
पचय नहीं है, सोपचय-सापचय नहीं है तथा निरुपचय-निर-
पचय है ।

मूल पाठ

† सिद्धा णं भन्ते ! केवइय काल सोवचया ?

गोयमा ! जहण्णेण एग समय, उक्कोसेण अट्टसमया ।

* सिद्धा भदन्त ! किं सोपचयाः, सापचयाः, सोपचयसापचयाः,
निरुपचयनिरपचयाः ?

गौतम ! सिद्धा. सोपचया. नो सापचया , नो सोपचय-सापचया.,
निरुपचयनिरपचयाः.

† सिद्धा भदन्त ! कियन्तं काल सोपचयाः ?

गौतम ! जघन्थेन एकं समयमुत्कर्षेण अष्टसमयान् ।

भगवान गौतम बोले—भगवन् ! सिद्ध कितने काल तक सोपचय-वृद्धि वाले होते है ?

भगवान महावीर बोले—गौतम ! कम से कम एक समय तक और अधिक से अधिक आठ समय तक ।

मूल पाठ

* सिद्धा ण भते ! केवइय काल णिरुवचयणिरवचया ?
गोयमा ! जहण्णेण एग समय, उक्कोसेण छम्मासा ।

हिन्दी—भावार्थ

भगवान गौतम बोले—भगवन् ! सिद्ध कितने काल तक निरुपचय-निरपचय है, एक साथ वृद्धि, हानि से रहित है ।

भगवान महावीर बोले—गौतम ! कम से कम एक समय तक और अधिक से अधिक छह मास तक । अर्थात् इतने काल तक सिद्ध अवस्थित रहते है ।

* परमात्मा अनादि है *

मूल पाठ

† तेण कालेणं तेणं समएण समणस्स भगवओ
महावीरस्स अन्तेवासी रोहे णामं अणगारे पगइ-भद्दए
पगइ-मउए पगइ-विणीए पगइ-उवसंते पगइ-पयणुकोह-

* सिद्धा भदन्त ! कियन्तं काल निरुपचयनिरपचयाः ?

गौतम ! जघन्येन एक, समयमुत्कर्षेण षण्मासान् ।

† तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अन्ते-

माण-माया-लोभे मिउ-मह्व-सपन्ने अल्लीणे भद्दए वि-
णीए समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूर-सामते उड्ढ-
जाणु अहोसिरे भाण-कोट्टोवगए सजमेण तवसा अप्पाण
भावेमाणे विहरइ । तए ण से रोहे णाम अणगारे जाय-
सड्ढे जाव पज्जुवासमाणे एव वदासी—

पुव्वि भते ! लोए, पच्छा अलोए ? पुव्वि अलोए
पच्छा लोए ?

रोहा ! लोए य अलोए य पुव्वि पेते, पच्छापेते ।
दोवि एए सासया भावा अणाणुपुव्वी एसा रोहा ! ।

पुव्वि भते ! जीवा, पच्छा अजीवा पुव्वि? अजीवा
पच्छा जीवा ? जहेव लोए य अलोए य तहेव जीवा य

वासी रोहो नाम अनगार प्रकृति-भद्रक , प्रकृतिमृदुक , प्रकृतिविनीत ,
प्रकृति-उपशान्तः, प्रकृतिप्रतनु-क्रोध-मान-माया-लोभ , मृदुमार्दवसम्पन्न ,
आलीन , भद्रक , विनीतः, श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अदूरसामन्ते
ऊर्ध्वजातुः, अधःशिरा , ध्यानकोष्ठोपगत. सयमेन तपसा आत्मान
भावयन् विहरति । तत स रोहो नाम अनगारो जातश्रद्धः, यावत्
पर्युपासमान एवमवदत्—

पूर्वं भदन्त ! लोक , पश्चाद् अलोक.?, पूर्वमलोक., पश्चात्लोक ?
रोह ! लोकश्च अलोकश्च पूर्वमपि एतौ, पश्चादपि एतौ । द्वावपि
एतौ शाश्वतौ भावौ । अनानुपूर्वी एषा रोह !

पूर्वं भदन्त ! जीवा , पश्चाद् अजीवा ? पूर्वमजीवा पश्चाज्जीवा?
यथैव लोकश्च अलोकश्च, तथैव जीवाश्च, अजीवाश्च । एव भव-

अजीवा य, एवं भवसिद्धिया य अभवसिद्धिया य सिद्धो असिद्धो सिद्धा असिद्धा ।

पुंवि भते ! अडए, पच्छा कुक्कुडो ?, पुंवि कुक्कुडो पच्छा अडए ?

रोहा ! से ण अडए कओ ? भयव ! कुक्कुडिओ । सा ण कुक्कुडी कओ?, भते ! अडयाओ । एवामेव रोहा ! से य अडए सा य कुक्कुडी, पुंवि पेते पच्छा पेते । दुवेते सासया भावा, अणाणुपुंवी एसा रोहा !

पुंवि भते ! लोयंते, पच्छा अलोयते?, पुंविं अलोयंते, पच्छा लोयते ? रोहा ! लोयते अलोयते य जाव अणाणुपुंवी एसा रोहा !

सिद्धिकाश्च, अभवसिद्धिकाश्च, सिद्धिः, असिद्धिः, सिद्धा, असिद्धाः, पूर्वं भदन्त ! अडक, पश्चात् कुक्कुटी, पूर्वं कुक्कुटी, पश्चाद् अडकम् ? रोह ! तद् अडक कृत ? भगवन् ! कुक्कुटीतः, सा कुक्कुटी कुतः ? भदन्त ! अडकत । एवमेव रोह ! तच्च अण्डक सा च कुक्कुटी, पूर्वमपि एते, पश्चादपि एते, द्वावपि तौ शाश्वती भावी, अनानुपूर्वी एषा रोह ! पूर्वं भदन्त ! लोकान्त ? पश्चादलोकान्त ? पूर्वमलोकान्त, पश्चाल्लोकान्तम् ? रोह ! लोकान्तञ्चालोकान्त च यावद् अनानुपूर्वी एषा रोह ! पूर्वं भदन्त ! लोकान्त, पश्चात् सप्तममवकाशान्तर ? पृच्छा, रोह ! लोकान्त च सप्तममवकाशान्तरं पूर्वमपि दावपि एतौ यावदभानुपूर्वी एषा रोह ! एव लोकान्त च सप्तमश्च तनुवातः, एव धनवात, धनोर्दधि, सप्तमा पृथ्वी, एवं लोकान्तमेकैकेन संयोजयितव्य-

पुंवि भते ! लोयते, पच्छा सत्तमे उवासतरे?, पुच्छा ।
 रोहा ! लोयन्ते य सत्तमे उवासन्तरे पुंवि पि दोवि
 एते जाव अणाणुपुंवी एसा रोहा ! एव लोयते य,
 सत्तमे य, तणुवाए एव घणवाए घणोदही सत्तमा
 पुढवी, एव लोयते एक्केक्केण सजोयव्वे इमेहि ठाणेहि
 तजहा—

ओवासवायघणउदही, पुढवी दीवा य सागरा वासा ।
 नेरइयाई अत्थिय समया कम्माइ लेस्साओ ॥१॥
 दिट्ठी दसण णाणा सन्न सरोरा य योग उवओगे ।
 दव्व—पएसा पज्जव अद्धा कि पुंवि लोयते ॥२॥

मेभि स्थानै तद्यथा—अवकाश—वात—घनो—दधि—पृथ्वी—द्वीपाश्च सागराः,
 वर्षाणि, नैरयिकादिः अस्तिकाय, समया, परमाणुः, लेश्या, ॥१॥
 दृष्टय., दर्शनानि, ज्ञानानि, सज्ञा., शरीराणि च, योगा, उपयोगौ
 द्रव्यप्रदेशाः, पर्यवा., अद्धा, किं पूर्वं लोकान्तम् ॥२॥ पूर्वं भदन्त !
 लोकान्त, पश्चात्सर्वाद्धा । यथा लोकान्तेन सयोजितानि सर्वाणि स्थानानि
 एतानि, एवमलोकान्तेनापि सयोजयितव्यानि सर्वाणि । पूर्वं भदन्त !
 सप्तम—मवकाशान्तर पश्चात्सप्तमः तनुवात., एव सप्तममवकाशान्तर
 सर्वे सम सयोजयितव्य यावत् सर्वाद्धिया । पूर्वं भदन्त ! सप्तम तनु-
 वातः पश्चात् सप्तमो घनवातः ? एतदपि तथैव नेतव्य यावत् सर्वाद्धिया ।
 एवमुपरितनमेकैक सयोजययत्ता यद् यद् अघस्तन तत्ताद् छड्डयिता नेतव्य
 यावद् अतीतानगताद्धा, पश्चात्सर्वाद्धिया, यावद् अनानुपूर्वी, एषा रोह !
 तदेव भदन्त !, तदेव भदन्त ! इति यावद् विहरन्ति ।

पुंवि भते । लोयते, पच्छा सव्वद्धा ? जहा लोय-
तेण सजोइया सव्वे ठाणा एते एव अलोयतेण वि सजो-
एव्वा सव्वे ।

पुंवि भते । सत्तमे उवासतरे, पच्छा सत्तमे
तणुवाए? एव सत्तम उवासतर सव्वेहि सम सजोएयव्व
जाव सव्वद्धाए ।

पुंवि भते! सत्तमे तणुवाए,पच्छा सत्तमे घणवाए?
एय पि तहेव नेयव्व जाव सव्वद्धा,एव उवरिल्ल क्केक्क
सजोयतेण जो-जो हिठिल्लो त-त छड्डतेण नेयव्व जाव
अतीय-अणागयद्धा पच्छा सव्वद्धा जाव अणाणुपुव्वी
एसा रोहा! सेव भते! सेव भते । त्ति जाव विहरइ ।

(भगवती सूत्र शतक १, उद्देशक ६)

संस्कृत-व्याख्या

‘पगइभद्दए त्ति’ स्वभावत एव परोपकारकरणशील ‘पगइ-
मउए त्ति’ स्वभावत एव भावमार्दविक, अतएव ‘पगइ-विणीए’ त्ति
तथा ‘पगइ-उवसते’ त्ति क्रोधोदयाभावात्, ‘पगइ-पयणु-कोहमाण-
मायालोभे’ सत्यपि कषायोदये तत्कार्याभावात् प्रतनुक्रोधादि-भाव,
‘मिउमद्दवसपन्ने’ त्ति मृदु यन्मार्दवम्—अत्यर्थमहकृतिजयस्तत्स-
पन्न-प्राप्तो गुरूपदेशात् यः स. तथा, ‘आलीणे’ त्ति गुरुसमाश्रित-
संलीनो वा ‘भद्दए त्ति’ अनुपतापको गुरुशिक्षागुणात् ‘विणीए’ त्ति,
गुरुसेवागुणात् ‘भवसिद्धिया य’ त्ति भविष्यतीति भवः, भवा सिद्धि—
निर्वृतिर्येषावते भसिद्धिका भव्या इत्यर्थः । ‘सत्तमे उवासतरे’ त्ति

सप्तम-पृथिव्या, अधोवर्त्याकाशमिति । सूत्र —सग्रहगाथे के ? 'तत्र 'ओवासे' ति सप्तावकाश'न्तराणि 'वाय' ति तनुवाता, घनवाता 'घण-उदहि' ति घनोदधय सप्त, 'पुढवी' ति नरक-पृथिव्या सप्तैव दीवा-जबूढीपादयोऽसख्याता असख्येया एव सागरा लवणादयः, 'वास' ति वर्षाणि भरतादीनि सप्तैव 'नेरयाइ' ति चतुर्विंशति-दण्डका. 'अत्थिय' ति अस्तिकाया. 'पचसमय' ति काल-विभागः कर्माण्यष्ट, लेख्या षट्, दृष्टयो—मिथ्यादृष्ट्यादयस्तिस्त्र, दर्शनानि चत्वारि, ज्ञानानि पच, सज्ञाश्चतस्र, शरीराणि पच, योगास्त्रय, उपयोगी द्वौ, द्रव्याणि षट्, प्रदेशा अनन्ता, पर्यंवा अनन्ता एव, 'अद्ध' ति अतीनाद्धा अनागताद्धा सर्वाद्धा चेति, 'कि पुण्वि लोयति' ति अय सूत्राभिलापनिर्देश. तथैव पश्चिम--सूत्राभिलाप दर्शयन्नाह— 'पुण्वि भते ! लोयते पच्छा सन्वद्धे' ति एतानि सूत्राणि शून्यज्ञानादिवादनिरासेन विचित्र--बाह्याध्यात्मिक--वस्तु--सत्ताभिधानार्थानि ईश्वरादि-कृतत्व-निरासेन चानादित्वाभिधानार्थानीति ॥

हिन्दी-भावार्थ

उस काल, उस समय श्रमण भगवान महावीर के शिष्य रोह नामक अनगार थे, जो कि प्रकृति-स्वभाव से भद्र, कोमल, विनीत और उपशान्त थे। क्रोध, मान, माया, लोभ को उन्होंने कमजोर बना दिया था, वे मृदुता के भण्डार थे, गुप्तेन्द्रिय थे, सरलता और विनीतता के निधि थे, वे भगवान महावीर के सन्निकट कुछ मस्तक को भुकाए हुए खड़े होकर, तथा ध्यान रूप कोष्ठक को प्राप्त कर के सयम और तप के द्वारा आत्मा को भावित करते हुए विहरण कर रहे थे। एक बार उन्हें लोक, अलोक आदि के सम्बन्ध में जिज्ञासा उत्पन्न हुई, तदनन्तर वे भगवान महावीर की सेवा में आए

और भगवान को वन्दना-नमस्कार करने के अनन्तर निवेदन करने लगे—

भगवन् ! लोक पहले है, अलोक पीछे है? या अलोक पहले है, लोक पीछे है ?

भगवान—रोह ! लोक और अलोक पहले भी है और पीछे भी अर्थात् ये दोनों पदार्थ शाश्वत है, नित्य है। इन में कोई पहले हो और कोई पीछे, ऐसी बात नहीं है।

रोह—भगवन् ! जीव पहले है कि अजीव पहले है ?

भगवान— रोह ! इसे लोक और अलोक के समान समझ लेना चाहिए ।

इसी प्रकार, भव्य, अभव्य, सिद्धि (मुक्ति), असिद्धि (ससार), सिद्ध (मुक्त), असिद्ध (ससारी) के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए ।

रोह—भगवन् ! अण्डा पहले है या मुर्गी ? मुर्गी पहले है या अण्डा ?

भगवान—रोह ! अण्डा कहा से उत्पन्न होता है ?

रोह—भगवन् ! मुर्गी से ।

भगवान—रोह ! मुर्गी कहा से उत्पन्न होती है ?

रोह—भगवन् ! अण्डे से ।

भगवान—रोह ! जैसे अण्डा और मुर्गी इन दोनों में एक पहले है, एक पीछे है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ये दोनों ही शाश्वत है, नित्य है। वैसे ही लोक और अलोक आदि भी ऐसे ही है, शाश्वत है ।

रोह—भगवन् ! लोकान्त पहले है, अलोकान्त पीछे है ? या अलोकान्त पहले है, लोकान्त पीछे है ?

भगवान—रोह । लोकान्त और अलोकान्त, इन दोनों में एक पहले है, दूसरा पीछे है, ऐसा नहीं कहा जा सकता । क्योंकि ये दोनों शाश्वत हैं, नित्य हैं ।

रोह—भगवन् ! लोकान्त पहले है, *सप्तम अवकाशान्तर पीछे है? या सप्तम अवकाशान्तर पहले है, और लोकान्त पीछे है ?

भगवान—रोह । लोकान्त और सप्तम अवकाशान्तर इन में कोई पहले नहीं है, और कोई पीछे नहीं है । दोनों ही शाश्वत हैं, नित्य हैं ।

इसी प्रकार लोकान्त, सप्तम तनुवात, सप्तम घनवात, सप्तम घनोदधि, और सप्तम नरक के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए ।

इसी प्रकार लोकान्त के साथ आकाश, वात, (तनुवात, घनवात), घनोदधि, पृथ्वि (सात नरक), द्वीप, सागर, वर्ष (भरत आदि क्षेत्र), नैरयिक आदि २४ दण्डक, अस्तिकाय (धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय), समय (सब से सूक्ष्म काल), कर्म (ज्ञानावरणीय आदि अष्टविध कर्म), छ लेख्याएँ (कृष्ण, नील आदि), तीन दृष्टियाँ (सम्यग्दृष्टि, मिथ्या-दृष्टि, मिश्र-

*अवकाशान्तर आकाश को कहते हैं । लोकान्त और सप्तम नरक के मध्य में स्थित आकाश को सप्तम अवकाशान्तर कहा जाता है । प्रथम नरक का आकाश '—प्रथम आकाश—' और दूसरी नरक का आकाश—द्वितीय; इसी क्रम से आगे—तीसरी का तीसरा, चौथी का चतुर्थ, पाचवी का पचम, छठी का षष्ठ और सातवी नरक का आकाश सप्तम आकाश कहा जाता है ।

दृष्टि), चार दर्शन (चक्षुर्दर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवल-दर्शन), पाच ज्ञान, (मति, श्रुत आदि), चार सज्ञाए (आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, ये चार सज्ञाए), पाच शरीर (औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण), तीन योग (मन-योग, वचन-योग, काय-योग), दो उपयोग (दर्शनोपयोग, ज्ञानोपयोग), द्रव्यप्रदेश (द्रव्य के खण्ड), पर्याये (अवस्थाए), और अद्धा (काल) इन को जोड़ लेना चाहिए । अर्थात् ये सभी शाश्वत है, नित्य है, इन में कोई पहले नहीं है, कोई पीछे नहीं है ।

रोह—भगवन् ! लोकान्त पहले है, सर्वाद्धा (भूत, वर्तमान, भविष्य, तीनों काल, सम्पूर्ण काल) पीछे है ?

भगवान—रोह ! दोनों शाश्वत है, नित्य है, इन में कोई पहले हो, कोई पीछे, ऐसी बात नहीं है ।

जिस प्रकार लोकान्त के साथ अवकाशान्तर आदि को जोड़कर प्रश्नोत्तर किए गए हैं, उसी प्रकार अलोकान्त के साथ अवकाशान्तर आदि को जोड़ लेना चाहिए, प्रश्नोत्तर बना लेने चाहिए ।

रोह—भगवन् ! सप्तम आकाश पीछे है, अथवा सप्तम तनुवात ?

भगवान—रोह ! दोनों शाश्वत है, नित्य है, कोई पहले पीछे नहीं है ?

इसी प्रकार सप्तम आकाश के साथ घनवात, घनोदधि आदि से लेकर सर्वाद्धा तक, इन सभी को जोड़ लेना चाहिए ।

रोह—भगवन् ! सप्तम तनुवात पीछे है, सप्तम घनवात पीछे नहीं है ।

भगवान—रोह । दोनो शाश्वत है, नित्य है, इन मे कोई पहले—पीछे नहीं है ।

इसी प्रकार सप्तम तनुवात के साथ घनोदधि, पृथ्वी आदि से लेकर सर्वाद्धा तक, इन सब का सयोजन कर लेना चाहिए ।

वर्णनक्रम मे सब से पहले लोकान्त को रखा है, फिर अलोकान्त, पुन सप्तम आकाश को, इसी प्रकार उस के अनन्तर तनुवात, घनवात, घनोदधि आदि है, और अन्त मे सर्वाद्धा है । सर्वत्र प्रश्नोत्तरो मे ऊपर के बोल के साथ क्रमश. नीचे के बोलो को जोडा गया है । जैसे लोकान्त को अवकाशान्तर आदि से लेकर सर्वाद्धा तक, इन सभी के साथ जोडा गया है, तथा अवकाशान्तर को तनुवात आद से लेकर सर्वाद्धा तक,के साथ जोडा गया । इसी प्रकार ऊपर के बोल के साथ नीचे के सब बोलो को क्रमश जोड देना चाहिए, इसी क्रम से ऊपर के बोलो को छोडकर नीचे के बोलो के साथ शेष सभी बोलो का सयोजन करते चले जाना चाहिए । अन्त मे प्रश्नावली अद्धा तक चली जाती है ।

मूल पाठ

* जे वि य ते खदया ! जाव कि अणते सिद्धे ? त चेव जाव । दब्बओ ण एगे सिद्धे सअन्ते, खेत्ताओ ण सिद्धे

* येऽपि च ते स्कन्दक । यावत् किमनन्तः सिद्धे ? तच्चैव यावद् द्रव्यत—एक सिद्ध. सान्तः, क्षेत्रतः—सिद्धो असख्येयप्रदेशिकः असख्येयप्रदेशावगाढः, अस्ति पुनः तस्यान्त । कालत.—सिद्ध सादिरपर्यवसितः, नास्ति पुन. तस्यान्तः । भावत.—सिद्धा. अनन्ता.

असखेज्जपएसिए असखेज्जपदेसोगाढे, अत्थि पुण से अन्ते, कालओ ण सिद्धे सादीए अपज्जवसिए, नत्थि पुण से अन्ते. भावओ ण सिद्धे अणन्ता णाणपज्जवा, अणन्ता दसणपज्जवा जाव अणन्ता अगुरुलहुयपज्जवा नत्थि पुण से अन्ते, सेत्त दव्वओ सिद्धे सअन्ते, खेत्तओ सिद्धे सअन्ते, कालओ सिद्धे अणन्ते, भावओ सिद्धे अणन्ते ।

—भगवतीसूत्र शतक २, उद्देशक १

हिन्दी—भावार्थ

हे स्कन्दक ! सिद्ध अनन्त है, परन्तु द्रव्य से एक सिद्ध सान्त है, क्षेत्र से एक सिद्ध असख्यात—प्रदेशिक है, और असख्यातप्रदेशावगाढ है काल से एक सिद्ध सादि है, अनन्त है, उसका अन्त नहीं होता है, भाव से एक सिद्ध की अनन्त ज्ञानपर्याय, अनन्त दर्शन—पर्याय यावत् अनन्त अगुरुलघुपर्याय है, इन का कभी अन्त नहीं होता है ।

साराश यह है कि द्रव्य और क्षेत्र से एक सिद्ध सान्त है, किन्तु काल और भाव से एक सिद्ध अनन्त है ।

मूल पाठ

†एगत्तेण साइया, अपज्जवसिया वि य ।

ज्ञानपर्यवा*, अनन्ताः दर्शनपर्यवाः यावद् अनन्ता अगुरुलघुपर्यवा, नास्ति पुन. तस्यान्त । समाप्त द्रव्यत.—सिद्ध सान्तः, क्षेत्रत.—सिद्ध. सान्तः, कास्यत.—सिद्धोऽनन्तः, भावत —सिद्धोऽनन्तः ।

† एकत्वेन सादिका, अपर्यवसिता अपि च ।

पृथक्त्वेन अनादिका, अपर्यवसिता अपि च ॥

पुहत्तेण अणाइया, अपज्जवसिया वि य ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र, अ० ३६/६६

संस्कृत—व्याख्या

एकत्वेनासहायत्वेन ते सादिका अपर्यवसिता अपि च यत्र हि काले ते सिध्यन्ति स तेषादि नतु कदाचित् मुक्ते. भ्रश्यन्ति, अतो न पर्यवसानमिति । पृथक्त्वेन-बहुत्वेन सामस्त्यापेक्ष्येति । यावत् अनादिका अपर्यवसिता अपि च नहि ऋदाचित् ते नाभूवन् न भविष्यन्ति चेति ।

हिन्दी—भावार्थ

एक सिद्ध की अपेक्षा सिद्ध सादि अनन्त है, और बहुत्व की अपेक्षा सिद्ध अनादि अनन्त है ।

* परमात्मा एक है *

मूल पाठ

* एगे सिद्धे ।

—स्थानागसूत्र स्थान १, सू० ४६

संस्कृत—व्याख्या

‘एगे सिद्धे’ सिध्यति स्म कृतकृत्यो भवेत्, सेधतिस्म वा समगच्छदपुनरावृत्त्या लोकाग्रमिति सिद्धः । सित वा बद्ध वा कर्म ध्मात्—दग्ध यस्य स निरुक्तात्—सिद्धः, कर्मप्रपञ्चनिर्मुक्तः, स चैको द्रव्यार्थतया पर्यायार्थतस्त्वनन्तपर्याय इति, अथवा सिद्धानामनन्तत्वेपि तत्साम्यदेकत्व अथवा कर्मशिल्प-विद्यामन्त्र-योगागमार्थयात्राबुद्धितप.—कर्मक्षयभेदेनानेकत्वेऽप्यस्यैकत्व सिद्धशब्दाभिधेयत्वसाम्यादिति ।

* एक. सिद्धः ।

हिन्दी-भावार्थ

सख्या की अपेक्षा से सिद्ध अनन्त होने पर भी सिद्ध-जीवो की ज्ञान, दर्शन आदि गुणसम्पदा समान होने के कारण “सिद्ध एक है” ऐसा कहा जाता है ।

मूल पाठ

णत्थि सिद्धो असिद्धी वा, णेव सन्न निवेशए
अत्थि सिद्धी असिद्धी वा, एव सन्न निवेशए ॥१॥
णत्थि सिद्धी निय ठाण, णेव सन्न निवेशए ।
अत्थि सिद्धी निय ठाण, एव सन्न निवेशए ॥२॥

—सूत्रकृताग सूत्र श्रु० २, अ० ५, गा० २५-२६

सस्कृत-व्याख्या

मिद्धि अशेषकर्मच्युतिलक्षणा तद्विपर्यस्ता चासिद्धिर्नास्तीत्येव नो सज्ञा निवेशयेद्, अपित्वसिद्धेः—ससार--लक्षणायाश्चातुर्विधेनानन्तरमेव प्रसाधिताया अविगानेनास्तित्व प्रसिद्ध, तद्विपर्ययेण सिद्धेरप्यस्तित्वम-निवारितमित्यतोऽस्ति सिद्धिरसिद्धिर्वेत्तेव सज्ञा निवेशयेदिति स्थितम्, इदमुक्तं भवति—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकस्य मोक्ष-मार्गस्य सद्भाव-त्कमक्षयस्य च पीडोपशमादिनाऽध्यक्षेण दर्शनादतः कस्यचिदात्यन्तिक-कर्म-हानि-सिद्धेरस्ति सिद्धिरिति, तथा चोक्तम् “--दोषाकरणयोर्हानि-

-
- * नास्ति सिद्धिरसिद्धिर्वा, नैव सज्ञा निवेशयेत् ।
अस्ति सिद्धिरसिद्धिर्वा, एव सज्ञा निवेशयेत् ॥
नास्ति सिद्धिः निज स्थान, नैव सज्ञा निवेशयेत् ।
अस्ति सिद्धिः निज स्थान, एव सज्ञा निवेशयेत् ॥

नि शेषाऽस्त्यतिशायिनी । क्वचिद् यथा स्वहेतुभ्यो, बहिरन्तर्म-
लक्षय' ॥१॥” इत्यादि, एव सर्वज्ञसद्भावोऽपि सभवानुमानाद् द्रष्टव्य,
तथाहि--प्रभ्रस्यभानाया प्रज्ञाया व्याकरणादि (ना) शास्त्र-संस्कारेणो-
त्तरोत्तर—वृद्धया प्रज्ञातिरायो दृष्ट, तत्र कस्यचिदत्यन्तातिशयप्राप्ते
सर्वज्ञत्व म्प्रादिते सभवानुमानम्, न चैतदाशङ्कनीय, तद्यथा--
ताप्यमानमुदकमत्यन्तोष्णतामियान्नाग्निसाद्भवेत् तथा—

दशहस्तान्तर व्योम्नि, यो नामोत्प्लुत्य गच्छति ।

न योजनमसौ गन्तु, शक्तोऽभ्यास-शतैरपि ॥१॥

इति, दृष्टान्तदाष्टान्तिकयोरसाम्यात्, तथाहि--ताप्यमान
जल प्रतिक्षण क्षय गच्छेत्, प्रज्ञा तु विवर्द्धते यदि वा प्लोषोप-
लब्धेरव्याहतमग्नित्व, तथा प्लवनविषयेऽपि पूर्वमयादाया अनति-
क्रमाद्योजनोत्प्लवनाभाव, तत्परित्यागे चोत्तरोत्तर वृद्ध्या
प्रज्ञाप्रकर्षगमनवद्योजनशतमपि गच्छेदित्यतो दृष्टान्तदाष्टान्तिकयो-
रसाम्यादेतन्नाशङ्कनीयमिति स्थितम्, प्रज्ञावृद्धेश्च बाधकप्रमाणाभावा-
दस्ति सर्वज्ञत्व-प्राप्तिरिति । यदि वा अञ्जनभृतसमुद्गदृष्टान्तेन
जीवाकुलत्वाज्जगतो हिंसाया दुर्निवारत्वात्सिद्धयभावः, तथाचोक्तम्—

जले जीवा स्थले जीवा, आकाशे जीवमालिनि ।

जीवमालाकुले लोके, कथं भिक्षुरहिंसक ? ॥१॥

इत्यादि, तदेव सर्वस्यैव हिंसकत्वात्सिद्धयभाव इति, तदेतदयुक्त,
तथाहि--सदोपयुक्तस्य पिहिताश्रवद्वारस्य पञ्चसमिति-समितस्य
त्रि-गुप्तिगुप्तस्य सर्वथा निरवद्यानुष्ठायिनो द्विचत्वारिंशदोषरहितभिक्षा-
भुज ईर्यासमितस्य कदाचिद् द्रव्यतः प्राणिव्यपरोपणेऽपि तत्कृत-
बन्धाभावः सर्वथा तस्यानवद्यत्वात्, तथा चोक्तम्--“उच्चालियसि
पाए,” इत्यादि प्रनीत, तदेव कर्मबन्धाभावात्सिद्धे. सद्भावो-
ऽव्याहृतः, सामग्र्यभावावसिद्धिसद्भावोऽपीति ॥२५॥ साम्प्रतं

सिद्धाना स्थाननिरूपणायाह—‘णत्थि सिद्धि, त्यादि, सिद्ध ---
 अशेषकर्मच्युति-लक्षणाया निज स्थानम--ईषत्प्राग्भाराख्य व्यवहारतो
 निश्चयतस्तु तदुपरियोजन-क्रोशषड्भाग तत्पतिपादकप्रमाणाभावात्
 स नास्तीत्येव सज्ञा नो निवेशयेत्, यतो बाधकप्रमाणाभावात्, साधकस्य
 चागमस्य सद्भावात्तत्सत्ता दुर्निवारेति । अपिच—अपगतशेषकल्मषाणा
 सिद्धाना केनचिद् विशिष्टेन स्थानेन भाव्य तच्चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य
 लोकस्याग्रभूत द्रष्टव्य, न च शक्येत ववतुमाकाशवत् सर्वव्यापिन
 सिद्धा इति, यतो लोकालोकव्याप्याकाश, न चालोकेऽपरद्रव्यस्य
 सभव तस्याकाशमात्ररूपत्वात्, लोकमात्र-व्यापित्वमपि नास्ति,
 विकल्पानुपपत्ते, तथाहि--सिद्धावस्थाया तेषा व्यापित्वमभ्युपगतमुत्-
 प्रागपि २ न तावत् सिद्धावस्थाया, तद् व्यापित्वभवने निमित्ताभावात्,
 नापि प्रागवस्थाया, तद्-भावे सर्वससारिणा प्रतिनियतसुख-दुःखानुभवो
 न स्यात्, न च शरीराद्धिरवस्थितमवस्थानमस्ति, तत्सत्तानिबन्धनस्य
 प्रमाणस्याभावात्--अतः सर्वव्यापित्व विचार्यमाण न कथञ्चिद् घटते,
 तदभावे च लोकाग्रमेव सिद्धाना स्थान, तद्गतिश्च ‘कर्मविमुक्तस्योर्ध्व
 गति’ रिति कृत्वा भवति, तथा चोक्तम्--

लाउ एरडफले अगगी धूमे य उसु धणु विमुक्के ।

गई पुव्वपओगेण एव सिद्धाण वि गईओ ॥१॥

तदेवमस्ति सिद्धिस्तस्याश्च निज स्थानमित्येव सज्ञा निवेशयेदिति ॥२६॥

हिन्दी-भावार्थ

सिद्धि (मुक्ति) नहीं है, और असिद्धि (ससार) नहीं है, ऐसी धारणा नहीं रखनी चाहिए, प्रत्युत सिद्धि और असिद्धि दोनों है, इस प्रकार की भावना रखनी चाहिए ।

जीव का निज-स्थान मुक्ति नहीं है, ऐसी धारणा भी नहीं रखनी चाहिए, किन्तु यही समझना चाहिए कि जीव का

निज स्थान मुक्ति ही है ।

मूल पाठ

* एगे भव? , दुवे भव? , अक्खए भव? , अक्खए भव? , अवट्ठिए भव? , अणेगभूय-भाव-भविए भव? सोमिला । एगे वि अह जाव अणेगभूयभावभविए वि अह । से केणट्ठेण भन्ते । एव वुच्चइ जाव भविए वि अहं ? सोमिला । दक्खट्ठयाए एगे अह, नाणदसणट्ठयाए दुविहे अह, पएसट्ठयाए अक्खए वि अह, अक्खए वि अह, अवट्ठिए वि अह, उवओगट्ठयाए अणेगभूयभाव-भविए वि अह, से तेणट्ठेण जाव भविए वि अह ।

—भगवतीसूत्र शतक १८, उद्देशक १०

संस्कृत—व्याख्या

‘एगे भव’ मित्यादि, एको भवानित्येकत्वाभ्युपगमे भगवतात्मनः कृते श्रोत्रादिविज्ञानानामवयवानां चात्मनोऽनेकतोपलब्धित एकत्व

* एको भवान् ? , द्वौ भवान् ? , अक्षयो भवान् ? , अव्ययो भवान् ? , अवस्थितो भवान् ? , अनेक-भूत-भाव-भविको भवान् ? सोमिल । एकोऽप्यहं यावद् अनेक--भूत--भाव--भविकोऽप्यहम् । तत्केनार्थेन भदन्त । एव उच्यते, यावद् भविकोऽप्यहम् ? सोमिल । द्रव्यार्थतया एकोऽहम्, ज्ञानदर्शनार्थतया द्विविधोऽहम्, प्रदेशार्थतया अक्षयोऽप्यहम्, अव्ययोऽप्यहम्, अवस्थितोऽप्यहम्, उपयोगार्थतया अनेकभूतभावभविकोऽप्यहम्, तत्केनार्थेन यावद् भविकोऽप्यहम् ॥

दूषयिष्यामीति बुद्ध्या पर्यनुयोगं सोमिलभट्टेन कृतं, द्वौ भवानिति च द्वित्वाभ्युपगमेऽहमित्थेकत्वविशिष्टस्यार्थस्य द्वित्वविरोधेन द्वित्वदूषयिष्यामीति बुद्ध्या पर्यनुयोगो विहितः, 'अवखण्ण भव' मित्यादिना व पदत्रयेण नित्यात्मपक्षः पर्यनुयुक्तः; 'अणो ग-भूय-भाव भविए भव' इति अनेके भूता.—अतीता भावा-सत्तापरिणामा भव्याश्च-भाविनो यस्य स तथा, अनेन चातीत-भविष्यत्सत्ताप्रश्नेनानित्यतापक्ष पर्यनुयुक्तः, एकरपरिग्रहं तस्यैव दूषणायैति, तत्र च भगवता स्याद्वादस्य निखिल-दोषगोचराति-क्रान्तत्वात्तमवलम्ब्योत्तरमदायि—'एगे वि अह' मित्यादि, कथमित्येतत् ? इत्यत आह—दव्वट्ठयाए एगोऽह, इति जीवद्वयस्यैकत्वे-नैकोऽह न तु प्रदशार्थतया, तथाहि अनेकत्वान्ममेत्ययवादीनामनेकत्वो-पलम्भो न बाधकः, तथा कञ्चित्स्वभावमाश्रित्यैकत्वसख्याविशिष्टस्यापि पदार्थस्य स्वभावान्तरद्वयापेक्षया द्वित्वमपि न विरुद्धमित्यत उक्त—'नाणदसणट्ठयाए दुवे वि अह' इति, न चैकस्य स्वभावभेदो न दृश्यते, एको हि देवदत्तादि पुंशुष एकदैव तत्तदपेक्षया पितृत्व-पुत्रत्व-भ्रातृत्वा-दीननेकान् स्वभावान् लभत इति, तथा प्रदेशार्थतयाऽसख्येयप्रदेशतामाश्रि-त्याक्षतोऽप्यह सर्वथा प्रदेशानां क्षयाभावात्, तथाऽव्ययोऽप्यह कतिपयानामपि च व्ययाभावात्, किमुक्तं भगति ?—अवस्थिताप्यह-नित्योऽप्यहम्, असख्येयप्रदेशिता हि न कदाचनापि व्यपैति, अतो नित्यताऽभ्युपगमेऽपि न दोषः, तथा 'उवओगट्ठयाए' इति विविधविषयानुपयोगानाश्रित्यानेकभूतभाव-भविकोऽप्यहम्, अतीताना-गतयोर्हि कालयोरनेक-विषय-बोधानामात्मनः कथञ्चिदभिन्नाना भूतत्वात् भावित्वाच्चेत्यनित्यपक्षोऽपि न दोषायैति ।

हिन्दी—भावार्थ

भगवतीसूत्र मे सोमिल ब्राह्मण और भगवान महावीर के सवाद का वर्णन आता है । आगे का वर्णन उसी सवाद का

एक भाग है—

सोमिल—भदन्त ! आप एक है? दो है? अक्षय है? अव्यय है? अवस्थित (नित्य) है? भूतकालीन और भविष्यत्कालीन अनेक पर्यायो वाले है ?

भगवान—सोमिल ! मैं एक भी हू, यावत् अनेक पर्यायो वाला भी हू ।

सोमिल— भदन्त ! किस अपेक्षा से आप ऐसा फरमाते है ?

भगवान—सोमिल ! द्रव्य की अपेक्षा से मैं एक हू, ज्ञान, दर्शन की अपेक्षा से मैं दो प्रकार का हू, आत्मप्रदेशो की अपेक्षा से अक्षय (क्षयरहित) हू, अव्यय (व्यय-प्राशिक नाश से रहित) हू, एव अवस्थित-नित्य भी हू । उपयोग की अपेक्षा से मैं अनेक भूत और भावी पर्यायो वाला हू ।

इसलिए हे सोमिल ! मैं एक भी हू, यावत् अनेक पर्यायो वाला भी हू ।



परिशिष्ट नं० १

मूल पाठ

* से कि त सव्वजीवाभिगमे ?

सव्वजीवेषु ण इमाओ णव पडिवत्तीओ एवमा-
हिज्जंति । एगे एवमाहसु—दुविहा सव्वजीवा णणत्ता,
जाव दसविहा सव्वजीवा पण्णता । तत्थ जे से एवमाहसु
दुविहा सव्व-जीवा पण्णत्ता, ते एवमाहसु तजहा—सिद्धा
य असिद्धा य इति ।

*अथ कोऽसौ सर्वजीवाभिगमः ?

सर्वजीवेषु इमा नवप्रतिपत्तय एवमाख्यायन्ते,—एके एवमाहु—
द्विविधा सर्वजीवा प्रज्ञप्ता यावद् दशविधा सर्वजीवा प्रज्ञप्ता ।
यत्र ये ते एवमाहु—द्विविधा सर्वजीवा प्रज्ञप्ता, ते एवमाहु,
तद्यथा— सिद्धाश्च, असिद्धाश्च इति ।

सिद्धो भदन्त । 'सिद्ध' इति कालत कियच्चिर भवति ?

गौतम ! सादिरपर्यवसित । असिद्धो भदन्त । 'असिद्ध' इति० ?
गौतम ! असिद्धो द्विविधः प्रज्ञप्त, तद्यथा—अनादिको वा, अपर्यवसित,
अनादिज्ञो वा सपर्यवसित । सिद्धस्य भदन्त ! कियन्कालमन्तर
भवति ? गौतम ! सादिकस्य अपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरम् । असिद्धस्य
भदन्त ! कियदन्तर भवति ? गौतम ! अनादिकस्य अपर्यवसितस्य
नास्त्यन्तरम् । अनादिकस्य सपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरम् । एतेषा
भदन्त ! सिद्धानामसिद्धानाञ्च कतरे २ ? गौतम ! सर्वस्तोका सिद्धा,
असिद्धा अनन्तगुणाः ।

सिद्धे ण भते । सिद्धे त्ति कालतो केवचिर होति ? ,
गोयमा । सातीअपज्जवसिए ।

असिद्धेण भते । असिद्धेत्ति ० ?

गोयमा । अमिद्धे दुविहे पणत्ते, तजहा—अणाइए
वा अपज्जवसिए, अणातीए वा सपज्जवसिए ।

सिद्धस्स ण भते । केवतिकाल अतर होति ? ,

गोयमा ! सातियस्स अपज्जवसियस्स णत्थि अतर ।

असिद्धस्स ण भते । केवइय अतर होइ ?

गोयमा । अणातियस्स अपज्जवसियस्स णत्थि
अतर, अणातियस्स सपज्जवसियस्स णत्थि अतर ।

एएसिण भते ! सिद्धाण असिद्धाण य कयरे २. ?

गोयमा । सव्वत्थोवा सिद्धा असिद्धा अणतगुणा ।

—जोवाभिगम सूत्र २४४

सस्कृत—व्याख्या

‘से कि त’ मित्यादि, अथकोऽसौ सर्वजीवाभिगम ? सर्वजीवाः
ससारिमुक्त-भेदा, गुरुराह—‘सव्वजीवेसु ण’ मित्यादि, सर्वजीवेसु
सामान्येत् ‘एता’ अनन्तर वक्ष्यमाणा नव प्रतिपत्तय ‘एवम्’ अनन्त-
रमुपदर्शयमानेन प्रकारेणाख्यायन्ते, ता एवाह—एके एवमुक्तवन्तो—
द्विविधा सर्वजीवा प्रज्ञप्ता. । एक एवमुक्तवन्तस्त्रिविधा सर्व-जीवा
प्रज्ञप्ता., एव यावदेके एवमुक्तवन्तो दशविधा सर्वजीवा प्रज्ञप्ता ।

तत्थे, त्यादि तत्र ये ते एवमुक्तवन्तो द्विविधा सर्वजीवा प्रज्ञप्तास्ते
एवमुक्तवन्तस्तद्यथा—सिद्धाश्चासिद्धाश्च, सित बद्धमष्टप्रकार कम्मं

ध्मात—भस्मीकत यैस्ते सिद्धाः, पषोदरादित्वादिष्टरूपनिष्पत्ति, निर्दग्धकर्मन्धना मुक्ता इत्यर्थ । 'असिद्धा' समारिण, च 'शब्दो स्वगतानेकभेदमदर्शनाथो' । सम्प्रति सिद्धस्य कायस्थितिमाह—सिद्धे ण, मित्यादि, सिद्धो भदन्त ! सिद्ध इति—सिद्धत्वेन कालत कियच्चिर भवति ?, भगवानाह—गौतम ! सिद्धः सादिकोऽपर्यवसित, तत्र सादिता ससारविप्रमुक्तिसमये सिद्धत्वभावात्, अपर्यवसिनता सिद्धत्व-च्युतेरसम्भवात् । असिद्धविषय प्रश्नसूत्र सुगम ।

भगवानाह—गौतम ! अमिद्धो द्विविध प्रजप्तस्तद्यथा—अनादि-कोऽपर्यवसित, अनादिक सपर्यवसित । तत्र यो न जातुर्चिदपि मत्स्यति अभव्यत्वात्तथाविधसामग्र्यभावाद्वा सोऽनाद्यपर्यवसित, यस्तु सिद्धि गत सोऽनादिसपर्यवसित । साम्प्रतमन्तर विचिन्तयिषुराह - 'सिद्धस्स ण भते', इत्यदि प्रश्न-सूत्र सुगम, भगवानाह—गौतम ! सिद्धस्य सादिकस्यापर्यवसिनस्य नास्त्यन्तरम्, अत्र निमित्तकारणहेतुषु सर्वासा विभक्तीना प्रायोदर्शन, मिति न्यायात् हेतो षष्ठी, ततोऽयमर्थ — यस्मात्सिद्धः सादिरपर्यवसितस्तस्मान्नस्त्यन्तरम्, अन्यथाऽपर्यवसितत्वा-योगात् असिद्ध-सूत्रे असिद्धस्यानादिकस्यापर्यव-सितस्य नास्त्यन्तरम्, अपर्यवसितत्वादेवासिद्धत्वाप्रच्युते, अनादिकसपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्तर, भूयोऽसिद्धत्वायोगात् साम्प्रतमेतेषामेवाल्पबहुत्वमाह—'ए-ए-सि ण' मित्यादि प्रश्न-सूत्र सुगम, भगवानाह—गौतम ! सर्वस्तोका सिद्धा, असिद्धा अनन्तगुणा, निगोदजीवानामतिप्रभूतत्वात् ।

हिन्दी—भावार्थ

जीवाभिगम (जिस मे केवल ससारी जीवो का वर्णन है) के अनन्तर सर्वजीवाभिगम (जिस मे ससारी और मुक्त, दोनो प्रकार के जीवो का वर्णन है) का स्थान है । अनगार गौतम ने भगवान महावीर से पूछा—भदन्त ! सर्वजीवाभिगम मे क्या

वर्णन है ?

भगवान बोले—गौतम! सर्वजीवों का वर्णन करने वाली नव प्रतिपत्तिया (अध्ययन) कही गई है। जैसेकि—

कई एक ऐसा कहते हैं कि सब जाव दो प्रकार के होते हैं, यावत् दस प्रकार के होते हैं। जा यह कहते हैं कि जीव दो प्रकार के होते हैं, उन को मान्यता इस प्रकार है—

१—सिद्ध, और २—असिद्ध

अनगार गौतम बोले—भदन्त ! सिद्ध भगवान की 'सिद्धत्व' रूप से कितनी स्थिति होती है ?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम ! सिद्ध भगवान की स्थिति एक सिद्ध की अपेक्षा से सादि अनन्त होती है ।

अनगार गौतम बोले—भदन्त ! असिद्ध जीवों (ससारी जीवों) की असिद्धत्व रूप से कितनी स्थिति होती है ?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम ! असिद्ध जीव दो प्रकार के कहे गये हैं, जैसेकि—

१ अनादि-अनन्त, २. अनादि-सान्त

अनगार गौतम बोले—भदन्त ! काल की अपेक्षा से सिद्ध भगवान का कितना अन्तर होता है ? अर्थात् सिद्ध सिद्धत्व को छोड़कर पुन कब सिद्ध बनते हैं ?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम ! सादि-अनन्त सिद्ध भगवान का कोई अन्तर नहीं होता है। अर्थात् सिद्ध भगवान सिद्धत्व से कभी रहित नहीं होते हैं।

अनगार गौतम बोले—भदन्त ! काल की अपेक्षा से असिद्ध जीव का कितना अन्तर होता है ? अर्थात् असिद्ध जीव

असिद्धत्व को छोड़ कर पुन कब असिद्ध बनते हैं ?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम ! अनादि-अनन्त असिद्ध जीव का अन्तर नहीं होता है । अर्थात् असिद्ध जीव असिद्धत्व को छोड़ कर (सिद्धत्व को प्राप्त कर के) पुन असिद्धत्व को कभी प्राप्त नहीं होते हैं । क्योंकि अनादि अनन्त होने के कारण वे असिद्धजीव असिद्धत्व का कभी परित्याग ही नहीं कर पाते हैं ।

इसी प्रकार अनादि सान्त असिद्ध जीवों का भी अन्तर नहीं होता है । क्योंकि अनादि सान्त असिद्ध जीव असिद्धत्व का परित्याग करके अर्थात् सिद्धत्व को प्राप्त करके, पुन असिद्धत्व को प्राप्त नहीं होते हैं, सिद्धदशा को छोड़ कर असिद्धदशा में नहीं आते हैं ।

अनगर गौतम बोले—भदन्त ! इन सिद्ध और असिद्ध जीवों में कौन अल्प और कौन अधिक है ?

भगवान महावीर कहने लगे—गौतम ! सब से कम सिद्ध जीव हैं, और सिद्ध जीवों से असिद्ध जीव अनन्त गुणा अधिक होते हैं ।

मूल पाठ

* अहवा दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तजहा—
सइदिया चेव अण्णदिया चेव ।

* अथवा द्विविधा. सर्वजीवा प्रज्ञप्ता । तद्यथा —सेन्द्रियाश्चैव
अनिन्द्रियाश्चैव ।

सेन्द्रियो भदन्त ! कालत. कियच्चिर भवति ? गौतम ! सेन्द्रियो
द्विविधः प्रज्ञप्त --अनादिको वा अपर्यवसितः, अनादिको वा सपर्यवसितः ।

सइदिए ण भत्ते । कानतो केवचिर होइ ?

गोयभा । सइदिए दुविहे पणत्ते—अणातीए वा अपज्जवसिए, अणाइए वा सपज्जवसिए । अणिदिए सातीए वा अपज्जवसिए दोण्ह वि अतर नत्थि । सव्वत्थोवा अणिदिया, सइदिया अणतगुणा ।

अह्वा दुविहा सव्वजीवा पणत्ता तजहा—सकाइया चेव अकाइया चेव एव चेव, एव सजोगी चेव अजोगी चेव

अग्निन्द्रिय सादिको वा अपर्यवसित । द्वयोरपि अन्तर नास्ति । सर्वस्तोका अग्निन्द्रियाः, सेन्द्रिया अनन्तगुणा ।

अथवा द्विविधा सर्वजीवा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—सकाणिकाश्चैव, अकायिकाश्चैव । एव चैव, एव सयोगिनश्चैव, अयोगिनश्चैव तथैव । एव सलेश्याश्चैव अलेश्याश्चैव, सशरीराश्चैव अशरीराश्चैव । सस्थानम्, अन्तरम्, अल्पबहुत्वम्, यथा सेन्द्रियाणाम् ।

अथवा द्विविधा. सर्वजीवा प्रज्ञप्ताः । तद्यथा—सवेदकाश्चैव, अवेदकाश्चैव ।

सवेदको भदन्त ! -सवे० । गौतम ! सवेदक त्रिविधः प्रज्ञप्तः । तद्यथा—अनादिक अपर्यवसित., अनादिक सपर्यवसित., सादिक सपर्यवसित. । तत्र य स सादिक सपर्यवसितत सो जघन्येन अन्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षेण अनन्त काल यावत्, क्षेत्रत अपार्थ पुद्गलपरिवर्त देशोनम् ।

अवेदको भदन्त ! अवेदक इति कालतः कियच्चिर भवति ? गौतम ! अवेदको द्विविधः प्रज्ञप्त । तद्यथा—सादिको वा अपर्यवसितः, सादिको वा सपपर्यवसितः । तत्र य स सादिक सपर्यवसित. स जघन्येन एक समयम्, उत्कर्षेण अन्तर्मुहूर्तम् ।

तहेव । एव सलेस्सा चेव, अलेस्सा चेव, ससरीरा चेव, असरीरा चेव, सच्चिट्ठण अतर अप्पाबहुय जहा सइन्दि-याण ।

अह्वा दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तजहा—सवेदगा चेव अवेदगा चेव ।

सवेदए ण भते । सवे० ? गोयमा । सवेयए तिविहे पण्णत्ते, तजहा—अणादोए अपज्जवसिते, अणादोए सपज्जवसिए, साइए सपज्जवसिए । तत्थ ण जे से साइए सपज्जवसिए से जह० अतोमु० उक्को० अणत काल जाव खेत्तओ अवड्ढ पोग्गलपरियट्ट दसूण ।

अवेदए ण भते । अवेयए ति कालओ केवचिर होइ ? गोयमा । अवेद दुविहे पण्णत्ते तजहा—सातीए

सवेदकस्य भदन्त ! कियत्कालमन्तर भवति ? अनादिकस्य अपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरम् । अनादिकस्य सपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरम् । सादिकस्य सपर्यवसितस्य जघन्येन एक समयम्, उत्कर्षेण अन्तर्मुहूर्तम् ।

अवेदकस्य भदन्त ! कियन्त कालमन्तर भवति ? सादिकस्य अपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरम् । सादिकस्य सपर्यवसितस्य जघन्येन अन्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षेण अनन्त काल यावद् अपार्धं पुद्गलपरिवर्तं देशोनम् । अल्पबहुत्वम्—सर्वस्तोका अवेदकाः, सवेदका अनन्तगुणा । एवं सकषायिणश्चैव, अकषायिणश्चैव । यथा सवेदकस्तथैव भणितव्यम् ।

अथवा द्विविधाः सर्वजीवा । सलेश्याश्च, अलेश्याश्च । यथा असिद्धाः, सिद्धाः । सर्वस्तोका अलेश्याः, सलेश्या अनन्तगुणा ।

वा अपञ्जवन्ति, साइए वा सपञ्जवन्ति, तत्थ ण जे से सादिए सपञ्जवन्तिने से जहण्णेण एक्क समय उक्को० अतोमुहुत्त ।

सवेयगस्स ण भते । केवति-काल अतर होइ ?

अणादियस्स अपञ्जवन्तियस्स णत्थि अतर, अणादियस्स सपञ्जवन्तियस्स नत्थि अतर, सादायस्स सपञ्जवन्तियस्स जहण्णेण एक्क समय, उक्कोसेण अतोमुहुत्त ।

अवेदगस्म ण भते । केवतिय काल अतर होइ ?

सातीयस्स अपञ्जवन्तियस्स णत्थि अतर, सातीयस्स सपञ्जवन्तियस्स जह० अतोमु० उक्कोसेण अणत काल जाव अवड्ढ पोग्गतापरियट्ठ देसूण । अप्पाबहुग-सव्वत्थोवा अवेयगा, सवेयगा अणतगुणा । एव सकसाई चैव अकसाई चैव २ जहा सवेयगे तहेव भाणियव्वे ।

अहवा दुविहा सव्वजीवा-सलेसा य अलेसा य जहा असिद्धा सिद्धा, सव्वत्थोवा-अलेसा, सलेसा अणतगुणा ।

सस्कृत-व्याख्या

अथवा द्विविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सेन्द्रियाश्च-अनिन्द्रियाश्च, तत्र सेन्द्रियाः-ससारिण, अनिन्द्रिया--सिद्धा । उपाधिभेदात्पृथगुपन्यास । एव सकायिकादिष्वपि भावनीय, तत्र सेन्द्रियस्य कायस्थितिरन्तर चासिद्धवद्वत्त्व्य, अनिन्द्रियस्य सिद्धवत्, तच्चैवम्—'सइदिए

ण भते !' सइदिय त्ति कालतो केवचिर होइ? गोयमा। सइदिए दुविहे पणत्त, तजहा - अणाइए वा अपज्जवसिए अणाइए वा सपज्जवसिए। अणिदिए ण भते ! अणिदिए त्ति कालता केवचिर होइ? गोयमा । साइए अपज्जवसिए। सइदियस्स ण भते ! कालओ केवचिर अतर होइ? गोयमा ! अणाइयस्स अपज्जवसियस्स नत्थि अतर, अणाइयस्स सपज्जवसियस्स नत्थि अतर। अणिदियस्स ण भते ! अतर कालतो केवचिर होइ? गोयमा ! साइयस्स अपज्जवसियस्स नत्थि अतर' इति, अत्पवहुत्तसूत्र पूर्ववद्भावनीयम् । एव कायस्थित्यन्तराल-बहुत्वसूत्राणि सकाशिकाकायिकविषयाणि सय. गय. गिविषयाप्यपि भाविय-तव्यानि, तच्चैवम्—'अहवा दुविहा सर्वजीवा पणत्ता, तजहा, सकाइया चेव अकाइया चेय, एव सजोगी वेव अजोगी चेत्त, तहेव एव सलेस्सा चेव अलेस्सा चेव ससरीरा चेव, असरीरा चेव सच्चिट्ठण अतर अप्पावहुय जहा सकाइयाण । मय प्ररारान्तरेण द्वैविध्यमाह- 'अहवे' त्यादि, अथवा द्विविधा सर्वजीवा प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सवेदकाश्च अवेदकाश्च । तत्र सवेदकस्य कायस्थितिमाह 'सवेदए ण भते ! इत्यादि प्रश्नसूत्र सुगम, भागवानाह—गीतम्। सवेदकस्त्रिविध प्रज्ञप्तास्तद्यथा—अनाद्य-पर्यवसित, अनादिसपर्यवसित, सादिसपर्यवसितश्च, अनाद्यपर्यवसितो-ऽभव्यो भव्यो वा तथाविधमामग्रच भावान्मुक्त्विमगन्ता, उक्तञ्च--'भव्वा-वि न सिज्भति केइ' इत्यादि अनादिसपर्यवसितो भव्यो मुक्तिगामी पूर्वमप्रतिपन्नोपशमश्रेणि., सादिसपर्यवसित पूर्व प्रतिपन्नोपशमश्रेणि उपशमश्रेणि पतिपद्य वेदापशमोत्तरकालावेदकत्त्रमनुभूय श्रेणिसमाप्तौ भवक्षयादपान्तराले मरणतो वा प्रतिपततो वेदोदये पुन सवेदकत्वोपपत्ते, तत्र षोऽसौ सादिसपर्यवसितो जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं श्रेणिसमाप्तौ सवेदकत्वे सति पुनरन्तर्मुहूर्त्तेन श्रेणिप्रतिपत्ताबवेदकत्वभावात्, आह—किमेकस्मिन्

जन्मनि वेलाद्वयमुपशमश्रेणिलाभो भवति ? यदेवमुच्यते, सत्यमेतद्भवति, तथा चाह—मूलटीकाकार --“नैकस्मिन् जन्मनि उपशमश्रेणि क्षपकश्रेणिस्रज्जायते, उपशमश्रेणिद्वय तु भवत्येव” इति, तत एवमुपपद्यते—जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं शुक्लर्षतोऽनन्त काल, तमेव कालक्षेत्राभ्या निरूपयति—अनन्ता उत्सर्पिण्यवर्मपिण्य एषा कालतो मार्गणा, क्षेत्रतोऽपार्द्धपुद्गल-परावर्त्तं दशोन्म, एतावन् कालादूर्ध्वं पूर्वग्रनिपन्नोपशमश्रेणेरवश्य मुक्त्यासन्नतया श्रेणिप्रतिपत्ताववेदकत्वभावात् । ‘अवेदए ण भते । इत्यादि प्रश्नसूत्र पाठसिद्ध, भगवानाह—गौतम । अवेदको द्विविध प्रज्ञप्तस्तद्यथा सादिको वाऽपर्यवसित [समयानन्तर] क्षीणवेद, सादिको वा सपर्यवसित - उपशान्तवेद, तत्र योऽसौ सादिसपर्यवसिनोऽवेदक. स च जघन्येनैक समय, उपशमश्रेणि—प्रतिपन्नस्य वेदोपशमसमयानन्तेऽपि मरणे पुन सवेदकत्वोपपत्तेः, उत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तं मुपशान्तवेदश्रेणिकाल, तत ऊर्ध्वं श्रेणी प्रतिपत्तने नियमत सवेदकत्वभावात् । अतर प्रतिपिपादयिषु-राह—‘सवेदगस्स ण भते । इत्यादि प्रश्नसूत्र सुगम, भगवानाह—गौतम । अनादिकस्यापर्यवसितस्य सवेदकस्य नास्त्यन्तर, अपर्यवसितत-या सदा तद्भावापरित्यागात् अनादिकस्य सपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्तर, अनादिसपर्यवसितो ह्यपान्तराले उपशमश्रेणिमप्रतिपद्य भाविक्षीणवेदो न च क्षीणवेदस्य पुन सवेदकत्व प्रतिपाताभावात्, सादिकस्य सपर्य-वसितस्य सवेदकस्य जघन्येनैक समयमन्तर, द्वितीयवारमुपशमश्रेणि प्रतिपन्नस्य वेदोपशमसमयानन्तर कस्यापि मरणसम्भवात्, उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्त्तं द्वितीय वारमुपशमश्रेणि प्रतिपन्नस्योपशान्तवेदस्य श्रेणिसमाप्तेरूर्ध्वं पुन सवेदकत्वाभावात् । अवेदकसूत्रे सादिकस्यापर्यवसितस्यावेदकस्य नास्त्यन्तर, क्षीणवेदस्य पुन. सवेदत्वाभावात्, वेदाना निर्मूलकाषकषित-त्वात् सादिकस्य सपर्यवसितस्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, उपशमश्रेणिसमाप्तौ सवेदकत्वे सति पुनरन्तर्मुहूर्त्तेनोपशमश्रेणिलाभतोऽवेदकत्वोपपत्तेः, उत्कर्ष-

तोऽनन्त काल, अनन्ता उत्सृपिण्यवसर्पिण्य कालत, क्षेत्रनाऽपार्द्धपुद्गल-
 परावर्त्त देशान, एकवारमुपश्रेणि प्रतिपद्य तत्रावेदका भूत्वा श्रणिसमाप्तौ
 सवेदकत्वे सति पुनरेतापता बालेन श्रेणिप्रतिपत्तावेदकत्वोपपत्ते ।
 अल्पब्रह्मत्वमाह—‘एएसि ण भते ! जीवा’ इत्यादि—पूर्ववत् । प्रका-
 रान्तरेण द्वैविध्यमाह—‘ग्रह्वे’ त्यादि, अथवा द्विबिधा सर्वजीवा,
 प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सकषायिकाश्च अकषायिकाश्च, सह कपाया येषा यैर्वा
 ते सकाषाया त एव सकषायिकाः प्राकृतत्वात् स्वार्थे इवप्रयय,
 एव न विद्यन्ते कषाया येषा ते अकषाया, २ एवाकषायिका । सम्प्रात
 कायस्थितिमाह—‘सकसाइयस्से’ त्यादि, सकषायिकस्य त्रिविधस्यापि
 सच्चिदृणा कायस्थितिरन्तर च यथा सवेदकस्य, अकषायिकस्य द्विविध-
 भेदस्यापि कायस्थितिरन्तर च यथाऽवेदकस्य तच्चैवम्—‘सकसाइए
 ण भते ! ‘सकसाइय’ ति कालतो केवचिर होइ ? गोयमा !
 सकसाइए तिविहे पन्नत्ते, तजहा—अणाइए वा अपज्जवसिए,
 अणाइए वा सपज्जवसिए, साइए वा सपज्जवसिए, तत्थ जे से
 साइए सपज्जवसिए से जहण्णेण अतोमुहुत्त, उक्कोसेण अणत
 काल—अणता ओसप्पणिउस्सप्पिणीओ कालतो खेत्ततो
 अवड्ढपोग्गलपरियट्ट देसूण, अकसाइए ण भते ! अकसाइय ति
 कालओ केवचिर होइ ? गोयमा ! अकसाइए—दुविहं पणत्ते,
 तजहा—साइए वा अपज्जवसिए, साइए वा सपज्जवसिए, तत्थ
 ण जे साइए सपज्जवसिए से जहण्णेण एकक समय उक्कोसेण
 अंतोमुहुत्त । सकसाइयस्स ण भते ! अतर कालतो केवचिर
 होइ ? गोयमा ! अणाइयस्स अपज्जवसियस्स नत्थ अतर,
 अणाइयस्स सपज्जवसियस्स नत्थ अतर, साइयस्स सपज्ज-
 वसियस्स जहण्णेण एकक समय उक्कोसेण अतोमुहुत्त,
 अकसाइयस्स ण भते ! केवइय काल अतर होइ ? साइयस्स

अपञ्जवसिग्रम् णत्थि अतर, साइयस्स सपञ्जवसियस्स जहण्णेण अतोमुहुत्त उक्कोसेण अनत काल जाव अवड्ढ पोगलपरियट्ट देसूण' मिति, अस्य व्याख्या पूर्ववत् । अल्पबहुत्वमाह—'एएसि भते ! जीवाण सकसाइयाण' मित्यादि प्राग्वत् । प्रकारान्तरेण द्वैविध्यमाह ।

हिन्दी—भावार्थ

अथवा सर्वजीव दो प्रकार के कहे गये हैं । जैसेकि सेन्द्रिय और अनिन्द्रिय ।

अनगार गौतम बोले—भगवन् ! सेन्द्रिय जीव काल से कब तक रहता है ?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम ! सेन्द्रिय जीव दो प्रकार के होते हैं—१ अनादि-अनन्त, और २ अनादि सान्त । किंतु अनिन्द्रिय (सिद्ध) जीव सादि-अनन्त होते हैं । दोनों प्रकार के जीवों के अन्तर नहीं होता है । सब से कम अनिन्द्रिय जीव होते हैं । इन की अपेक्षा सेन्द्रिय जीव अनन्त गुणा अधिक होते हैं ।

अथवा सर्वजीव दो प्रकार के कहे गए हैं । जैसेकि सकायिक (पृथ्वी आदि काय वाले , अकायिक (काय से रहित, सिद्ध) । इसी प्रकार सयोगी (मन, वचन, काया के व्यापार वाले) और अयोगी (सिद्ध), सलेश्य कृष्ण, नील आदि लेश्याओं वाले), और अलेश्य लेश्याओं से रहित-सिद्ध, सशरीर (औदारिक आदि शरीर वाले), और अशरीर (शरीर-रहित, सिद्ध) ।

सकायिक आदि सभी जीवों का सस्थान (अवस्थिति), अन्तर, और अल्पबहुत्व सेन्द्रिय जीवों के समान समझना

चाहिए ।

अथवा सर्वजीव दो प्रकार के कहे गए हैं । जैसेकि सवेदक (स्त्री, आदि वेद वाले) और अवेदक (वेदरहित) ।

अनगार गौतम बोले—भगवन् ! सवेदक जीव कितने प्रकार के होते हैं ?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम ! सवेदक जीव तीन प्रकार के होते हैं । जैसेकि—१—अनादि-अनन्त, २—अनादि-सान्त, ३—सादि-सान्त । इन में से जो सादि-सान्त जीव है, उन की अवस्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त, और उत्कृष्ट अनन्त काल तक है । यावत् क्षेत्र से *देशोन अपार्थ पुद्गल परिवर्तन तक है ।

अनगार गौतम बोले—भदन्त ! अवेदक जीव काल की अपेक्षा से कब तक रहता है ?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम ! अवेदक जीव दो प्रकार के कहे गये हैं । जैसेकि—१—सादि-अनन्त और २—सादि-सान्त । इन में से जो सादि सान्त है, उनकी जघन्य स्थिति एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त की होती है ।

अनगार गौतम बोले—भगवन् ! सवेदक जीव का अन्तर कितने समय का होता है ?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम ! अनादि-अनन्त तथा अनादि-सान्त सवेदक जीव का अन्तर नहीं होता है । किन्तु सादि-सान्त सवेदक जीव का अन्तर जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त का होता है ।

*पुद्गलपरिवर्तन के अर्थ के लिए देखो, श्री जैनसिद्धान्त बोससग्रह भाग ३, पृष्ठ १३८ ।

अनगार गौतम बोले—भगवन् । अवेदक जीव का अन्तर कितने समय का होता है ?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम । सादि-अनन्त अवेदक जीव का अन्तर नहीं होता है, किन्तु सादि-सान्त अवेदक जीव का अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अनन्त काल का होता है । यावत् क्षेत्र से देशोन अपार्धं पुद्गलपरावर्तन का होता है ।

सवेदक और अवेदक जीवो का अल्प-बहुत्व इस प्रकार है— सब से कम अवेदक जीव है, और सवेदक इन से अनत गुणा अधिक है । सकषायी और अकषायी जीवो का अन्तर सवेदक जीवो के समान समझना चाहिए ।

अथवा सर्वजीव दो प्रकार के कहे गए हैं । जैसे कि-सलेश्य (कृष्ण आदि लेश्याओं वाले) और अलेश्य (लेश्याओं से रहित) । सब से कम अलेश्य है, सलेश्य इन से अनन्त गुणा अधिक होते हैं ।

मूल पाठ

*णाणी चैव अण्णाणी चैव । णाणी ण भते !
कालओ० ? २ दुविहे पण्णत्ते—सातीए वा अपज्जवसिए,
सादीए वा सपज्जवसिए । तत्थ ण जे से सादीए सपज्ज-

* ज्ञानिनश्चैव अज्ञानिनश्चैव । ज्ञानी भदन्त । कालत.० ?
२ द्विविध. प्रज्ञप्त. । सादिको वा अपर्यवसित., सादिको वा सपर्य-
वसित. । तत्र य सादिक सपर्यवसित., स जघन्येन अन्तर्मुहूर्तम्,
उत्कर्षेण षट्षष्टि-सागरोपमानि सातिरेकाणि । अज्ञानिनो यथा सवेदका ।

वसिते, से जहण्णेण अतोमुहुत्त उक्कोसेण छावोट्टसाग-
रोवमाइ सातिरेगाइ, अण्णाणी जहा सवेदया ।
णाणिस्स अतर—जहण्णेण अतोमुहुत्त, उक्कोसेण अणत्त
काल, अवड्ढ पोग्गलपरियट्ट देसूण । अण्णाणियस्स
दोण्ह वि आदिल्लाण णत्थि अतर, मादियस्स सपज्ज-
वसियस्स जहण्णेण अतोमुहुत्त, उक्कोसेण छावोट्टि
सागरोवमाइ साइरेगाइ । अप्पाबहु सव्वत्थावा णाणो
अण्णाणी अणत्तगुणा ।

अहवा दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता—मागरोवउत्ता
य अणागारोवउत्ता य, सच्चिट्ठणा अतर च जहण्णेण
उक्कोसेण वि अन्तोमुहुत्त, अप्पाबहु सागरोवउत्ता
संखे० ।

सस्कृत—व्याख्या

अहवे त्यादि अथवा द्विविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सलेख्याश्च

ज्ञानिनोऽन्तरम्—जघन्येन अन्तर्मुहूर्तम् उत्कर्षेण अनन्त कालम्, अपार्धं
पुद्गलपरिवर्तं देशोन्तम् । अज्ञानिनो द्वयोरपि आद्ययोर्नास्त्यन्तरम् ।
सादिकस्य सपर्यवसितस्य जघन्येन अन्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षेण षट्षष्टि
सागरोपमानि सातिरेकानि । अल्पबहुत्वम्—सर्वस्तोका ज्ञानिन, अज्ञा-
निनोऽनन्तगुणा ।

अथवा द्विविधा सर्वजीवा प्रज्ञप्ता । साकारोपयुक्ताश्च अनाका-
रोपयुक्ताश्च । सस्थानम्, अन्तर च जघन्येन उत्कर्षेणापि अन्तर्मुहूर्तम् ।
अल्पबहुत्वम्—साकारो० सख्य० ।

अलेश्यश्च, तत्र सलेश्यस्य कायस्थितिरन्तर चासिद्धस्येव, अलेश्यस्य कायस्थितिरन्तर च यथा सिद्धस्य । अल्पबहुत्व प्राग्वत् ।

भूयः प्रकारान्तरेण द्वैविध्यमाह—अहवे त्यादि, अथवा द्विविधा सर्वजीवा प्रज्ञप्तास्तद्यथा—ज्ञानिनश्च अज्ञानिनश्च, ज्ञानमेषामस्तीति ज्ञानिन, न ज्ञानिनोऽज्ञानिन मिथ्याज्ञाना इत्यर्थ ।

सम्प्रति कायस्थितिमाह—‘णाणी ण’ मित्यादि—प्रश्नसूत्र सुगमम् । भगवानाह—गौतम । ज्ञानी द्विविध प्रज्ञप्तस्तद्यथा—सादिको वा अपर्यवसितः, स च केवली कवलज्ञानस्य साद्यपर्यवसितत्वात्, सादिको वा सपर्यवसिनो मतिज्ञानादिमान्, मतिज्ञानादीना छाद्मिथ्यकतया सादि-सपर्यवसितत्वात् । तत्थ ण’ मित्यादि, तत्र योऽसौ सादिक सपर्यवसिन स जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, सम्यक्त्वस्य जघन्यत एतावन्मात्रकालत्वात् सम्यक्त्ववतश्च ज्ञानित्वात् यथोक्तम्—सम्यग्दृष्टेर्ज्ञान मित्यादृष्टेर्विपर्यास’ इति उत्कर्षत षष्ठषष्टि सागरोपमाणि सातिरेकाणि सम्यग्दर्शनकालस्याप्युत्कर्षत एतावन्मात्रत्वात्, अप्रतिपतितसम्यक्त्वस्य विजयादिगमन-श्रवणात्, तथा च भाष्यम्—

दो वारे विजयाइसु गयस्स तिन्निऽच्चुए अहव ताइ ।

अइरेग नर-भविय नाणाजीवाण सव्वद्धा* ॥ १ ॥

अण्णाणी ण भते! इत्यादि प्रश्नसूत्र सुगमम् भगवानाह—गौतम । अज्ञानी त्रिविध प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अनादिको वाऽपर्यवसित, अनादिको वा सपर्यवसितः, तत्रानाद्यपर्यवसितो यो न जातुचिदपि सिद्धि गन्ता, अनादिसपर्यवसितो योऽनादिमिथ्यादृष्टि सम्यक्त्वमासाद्याप्रतिपतित-सम्यक्त्व एव क्षणक्षेत्रिणि प्रतिपत्स्यते, सादिसपर्यवसित. सम्यग्दृष्टिभूत्वा जातमिथ्यादृष्टिः स जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं सम्यक्त्वात् प्रतिपत्स्य पुनरन्त-

*द्वौ वारौ विजयादिषु गतस्य अथवा त्रीनच्युते तानि ।

अतिरेको नर-भविक नानाजीवाना सर्वाद्धा ॥ १ ॥

मुहूर्त्तेन कस्यापि सम्यग्दर्शनावाप्ति—सम्भवात्, उत्कर्षेणानन्त कालं
 अनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्य कालत, क्षेत्रतोऽपाध्वं पुद्गलपरावर्त्त देशोनम् ।
 साम्प्रतमन्तर प्रतिपादयति— णाणिस्स ण भते !' इत्यादि,
 ज्ञानिनो भदन्त ! अतर कालत' कियच्चिर भवति ? , भगवानाह—
 गौतम ! सादिकस्यापर्यवसितस्य नास्त्यन्तरम्, अपर्यवसितत्वेन सदा
 तद्भावापरित्यागात्, सादिकस्य सपर्यवसितस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, एता-
 वता मिथ्यादर्शनकालेन व्यवधानेन भूयोऽपि ज्ञानाभावात्, उत्कर्षेण
 अनन्त काल, अनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्य कालत, क्षेत्रतोऽपाध्वं
 पुद्गलपरावर्त्त देशोन, सम्यद्दृष्टे सम्यक्त्वात्प्रतिपतितस्यैतावन्त काल
 मिथ्यात्वमनुभूय तदनन्तरमवश्य सम्यक्त्वासादनात्—'अण्णाणिस्स ण
 भते !' इत्यादि प्रश्नसूत्र सुगम, भगवानाह—गौतम ! अनाद्यपर्य-
 वसितस्य नान्त्यन्तरम्, अपर्यवसितत्वादेव, अनादिसपर्यवसिनस्यापि
 नास्त्यन्तरं प्रवाप्तकेवलज्ञानम्य प्रतिपाताभावात् । सादिसपर्यवसानस्य
 जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, जघन्यस्य सम्यग्दर्शनकालस्यैतावन्मात्रत्वात्, उत्कर्षत
 षट्षष्टि सागरोपमाणि सानिरेकाणि, एतावतोऽपि कालादूर्ध्वं सम्यग्दर्श-
 नप्रतिपाते सत्यज्ञानभावात् । अल्पबहुत्वसूत्र प्राग्वत् । प्रकारान्तरेण
 द्वैविध्यमाह—'अह्वे' त्यादि, अथवा द्विविधा सर्वजीवा ब्रजप्तास्तद्य-
 था—साकारोपयुक्ताश्च, अनाकारोपयुक्ताश्च । सम्प्रति कायस्थितिमाह-
 'सागारोवउत्ता ण भते।' इह छद्मस्था एव सर्वजीवा विवक्षिता,
 न केवलिनोऽपि 'विचित्रत्वात् सूत्रगते' रिति द्वयानामपि कायस्थिता-
 वन्तरे चैकसामयिकोऽप्युच्येत । अल्पबहुत्व—चिन्ताया सर्वस्तोका अना-
 कारोपयुक्ता., अनाकारोपयोगस्य स्तोककालतया पृच्छासमये तेषा
 स्तोकानामेवावाप्यमानत्वात् । साकारोपयुक्ताः सङ्ख्येयगुणा, अनाका-
 रोपयोगाद्वात. साकारोपयोगाद्वायाः सङ्ख्येयगुणत्वात् ।

हिन्दी-भावार्थ

अथवा सर्वजीव दो प्रकार के कहे गए हैं। जैसेकि ज्ञानी और अज्ञानी।

अनगार गौतम बोले—भगवन् ! ज्ञानी जीव कब तक रहते हैं ?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम ! ज्ञानी जीव दो प्रकार के होते हैं। जैसेकि—सादि-अनन्त, और सादि-सान्त। इन में जो जीव सादि-सान्त होते हैं, उनकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट कुछ अधिक ६६ सागरोपम की होती है। अज्ञानी जीवों को सवेदक जीवों के समान समझना चाहिए। ज्ञानी जीवों का अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट अनन्तकाल तक होता है। अनन्तकाल के भी अनन्त भेद होते हैं, किन्तु प्रस्तुत में उस अनन्त का ग्रहण करना चाहिए जिस में कुछ कम अपार्थ पुद्गल परावर्तन जितना समय लग जाता है। पहले दो प्रकार के अज्ञानी जीवों का अन्तर नहीं होता है, परन्तु सादि-सान्त अज्ञानी जीवों का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त, और उत्कृष्ट अन्तर कुछ अधिक ६६ सागरोपम तक होता है। इन जीवों का अल्पबहुत्व इस प्रकार है—

सब से कम ज्ञानी जीव हैं। इन को अपेक्षा अज्ञानी जीव अनन्तगुणा अधिक हैं।

अथवा सर्वजीव दो प्रकार के कहे गए हैं। जैसेकि—

१—साकारोपयुक्त (ज्ञानोपयोग वाले), २—अनाकारोपयुक्त (दर्शनोपयोग वाले)। टीकाकर के मतानुसार यहाँ सर्वजीव शब्द से छद्मस्थ जीवों का ही ग्रहण करना सूत्रकार को इष्ट है। उनके कथनानुसार यहाँ केवली और सिद्ध जीवों का ग्रहण नहीं करना चाहिए। इन दोनों प्रकार के जीवों का

अवस्थितिकाल और अन्तरकाल जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है । इन का अल्पबहुत्व इस प्रकार है—

सब से कम अनाकारोपयोग वाले जीव है, और साकारोपयोग वाले जीव इन की अपेक्षा सख्येय गुणा अधिक है ।

मूल पाठ

अह्वा दुविहा सव्वजोवा पणत्ता, तजहा—आहार—
गा चेव अणाहारगा चेव ।

आहारए ण भते । जाव केवचिर होति ?

गोयमा । आहारए दुविहे पणत्ते, तजहा—
छउमत्थआहारए य केवलिआहारए य ।

छउमत्थआहारए ण जाव केवचिर होति ?

गोयमा । जहण्णेण खुड्डाग भवग्गहण दुसमयऊण,
उक्को० असखेज्ज काल जाव काल० खेत्ताओ अगुलस्स

* अथवा द्विविधा सर्वजीवा प्रज्ञप्ताः । तद्यथा—आहारकाश्चैव, अनाहारकाश्चैव । आहारको भदन्त । यावत् कियच्चिर भवति ? गौतम । आहारको द्विविध प्रज्ञप्त । तद्यथा—छद्मस्थाहारकश्च, केवलि-आहारकश्च । छद्मस्थाहारको यावत् कियच्चिर भवति ? गौतम । जघन्येन क्षुल्लक भवग्रहण द्विसमयोन्म, उत्कर्षेण असख्येयकाल यावत् काल०, क्षेत्रतोऽगुलस्य असख्येयभागम् । केवलि-आहारको यावत् कियच्चिर भवति ? गौतम । जघन्येन अन्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षेण देशोना पूर्वकोटि । अनाहारको भदन्त । कियच्चिर० ? गौतम । अनाहारको द्विविध प्रज्ञप्त । तद्यथा—छद्मस्थानाहारकश्च, केवलि-अनाहारकश्च ।

असखेज्जतिभाग ।

केवलिआहारए ण जाव केवचिर होइ ?

गोयमा । जहण्णेण अतोमुहुत्त उवकोसेण देसूणा
पुव्वकोडो ।

अणाहारए ण भते । केवचिर० ?

छद्मस्थानाहारको यावत् कियच्चिर भवति० ? गीतम । जघन्येन एकं समयम्, उत्कर्षेण द्वौ समयौ । केवलि-अनाहारको द्विविध प्रज्ञप्तः, तद्यथा—सिद्धकेवलि- अनाहारकश्च, भवस्थकेवलि-अनाहारकश्च । सिद्ध-केवलि-अनाहारको भदन्त । कालत कियच्चिर भवति ? सादिकोऽपर्य-वसित । भवस्थकेवलि-अनाहारको भदन्त । कतिविध प्रज्ञप्तः ? भवस्थ-केवलमनाहारका द्विविध प्रज्ञप्त—सर्योगभवस्थकेवलि-अनाहारकश्च, अयोगि-भवस्थकेवलि-अनाहारकश्च । सयोगि-भवस्थकेवलि-अनाहारको भदन्त । कालत कियच्चिर० ? अजघन्यानुत्कर्षेण त्रीन् समयान् । अयोगिभवस्थकेवलि० जघन्येन अन्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षेण अन्तर्मुहूर्तम् । छद्मस्थाहारकस्य कियन्तं कालमन्तरम्० ? गीतम । जघन्येन एक समयम्, उत्कर्षेण द्वौ समयौ । केवलि-आहारकस्य अन्तरम्—अजघन्यानुत्कर्षेण त्रीन् समयान् । छद्मस्थानाहारकस्यान्तरम्—जघन्येन क्षुल्लक भवग्रहण द्विसमयोनम्, उत्कर्षेण असख्येय काल यावद् अगुलस्थासख्येयभागम् ।

सिद्ध-केवलि-अनाहारकस्य सादिकस्य अपर्यवसितस्य नास्त्यन्तर, सयोगिभवस्थ-केवलि-अनाहारकस्य जघन्येन अन्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षेणापि । अयोगिभवस्थकेवलि-अनाहारकस्य नास्त्यन्तरम् । एतेषा भदन्त ! आहारकाणामनाहारकाणाञ्च कतरे कतरेभ्योऽल्पा बहवः ? गीतम ! सर्वस्तीका अनाहारका, आहारका असख्येयाः ।

गोयमा ! अणाहारए दुविहे पण्णत्ते, तजहा-
छउमत्थअणाहारए य केवलिअणाहारए य ।

छउमत्थअणाहारए ण जाव केवचिर होति ?

गोयमा ? जहण्णेण एक्क समय उक्कोस्सेण दो
समया । केवलिअणाहारए दुविहे पण्णत्ते, तजहा—
सिद्ध—केवलिअणाहारए य भवत्थकेवलिअणाहारए य ।

सिद्ध—केवलि-अणाहारए ण भते ! कालओ केव-
चिर होति ? , सातिए अपज्जवसिए ।

भवत्थकेवलि-अणाहारए ण भते ! कइविहे
पण्णत्ते ?

भवत्थकेवलि-अणाहारए दुविहे पण्णत्ते—सजोगि-
भवत्थकेवलिअणाहारए य अजोगिभवत्थकेवलिअणा-
हारए य ।

सजोगिभवत्थकेवलिअणाहारए ण भते ! कालओ
केवचिर होति ? ,

अजहण्णमणुक्कोसेण तिण्णिण समयया । अजोगिभव-
त्थकेवलिअणाहारए जह० अतो०, उक्को० अंतोमुहुत्तं ।

छउमत्थआहारगस्स केवलिय काल अतरं० ? ,

गोयमा ! जहण्णेण एक्क समय, उक्को० दो
समया । केवलिआहारगस्स अंतर—अजहण्णमणुक्कोसे-
ण तिण्णिण समयया । छउमत्थअणाहारगस्स अतर

जहण्णेण खुड्ढागभवग्गहण दुसमयऊण उक्को० असखेज्ज
काल जाव अगुलस्स असखेज्जतिभाग । सिद्धकेवल्लिअ-
णाहारगस्स सातीयस्स अपज्जवसियस्स णत्थि अतर ।
सजोगिभवत्थकेवल्लिअणाहारगस्स जह० अतो० उक्को-
सेण वि, अजोगिभवत्थकेवल्लिअणाहारगस्स णत्थि
अतर ।

एएसि ण भते । आहारगाण अणाहारगाणं य
कयरे २ हितो अप्पाबहु० ?

गोयमा । सव्वत्थोवा अणाहारगा, आहारगा
असखेज्जा ।

संस्कृत-व्याख्या

‘अहवे’ त्यादि, अथवा द्विविधा सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—
आहारकाश्च अनाहारकाश्च । अधुना कायस्थितिमाह—‘आहारगे ण
भते ।’ इत्यादि । प्रश्नसूत्र सुगम, भगवानाह—गौतम । आहारको
द्विविध प्रज्ञप्तस्तद्यथा—छद्मस्थाहारक केवल्याहारक, तत्र छद्मस्था-
हारको जघन्येव क्षुल्लकभवग्रहण द्विसमयो, एतच्च जघन्याधिकाराद्वि-
ग्रहेणागत्य क्षुल्लकभवग्रहणवत्सूत्पादे परिभावनीय, तत्र यद्यपि नाम
लोकान्तनिष्कुटादावुत्पादे चतु सामायिकी पञ्चसामयिकी च विग्रह-
‘गतिर्भवति तथाऽपि बाहुल्येन त्रिसामयिक्येवेति तामेवाधिकृत्य सूत्र-
मिदमुक्त्वा ।

इत्थमेवान्येषामपि पूर्वाचार्याणां प्रवृत्तिदर्शनात् उक्तञ्च—“एक
द्वौ वा ज्ञाहारकः” (तत्त्वा० अ० २ सू० ३१)

इति, त्रिसामयिक्या च विग्रहगतावाञ्चौ द्वौ समधावनाह रक इति ताभ्या हीनमुक्त, उत्कर्षतोऽसङ्ख्येय - कालम्, असङ्ख्येया उत्सर्पिष्य-वसर्पिष्य कालत, क्षेत्रतोऽङ्गुलम्यासङ्ख्येयो भागः, विमुक्त भवति?— अङ्गुलमात्रक्षेत्राङ्गुलासङ्ख्येयभागे यावन्त आकाशप्रदेशास्तावन्तः प्रतिसमयमेकैकप्रदेशापहारे यावता कालेन निर्लेपा भवन्ति तावत्य उत्सर्पिष्यवसर्पिष्य इति, तावन्त हि कालमविग्रहेणोत्पाद्यते, अविग्रहोत्पत्तौ च सततमाहार । केवल्याहारकप्रश्नसूत्र पाठसिद्ध, भगवानाह—गौतम । जघन्येनान्तर्मुहूर्त्त, स चान्तकृत् केवली प्रतिपत्तव्य, उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, सा च पूर्वकोटद्यायुषो नववर्षादारभ्योत्पन्न-केवलज्ञानस्य ररिभावनीया । अनाहारकविषय सूत्रमाह—‘अनाहारए ण भते । इत्यादि प्रश्नसूत्र सुगमम्, भगवानाह—गौतम । अनाहारको द्विविध प्रज्ञप्त—छद्मस्थोऽनाहारकः केवल्यानाहारकश्च । छद्मस्थाना-हारकप्रश्नसूत्र सुगमम् । भगवानाह—गौतम । जघन्यत एक समय, जघन्याधिकाराद्द्विसामयिकी विग्रहगतिमपेक्ष्यैतदवसातव्य, उत्कर्षतो द्वौ समयौ त्रिसामयिक्या एव विग्रहगतेर्बाहुल्येनाश्रयणात् । आह च चूर्णिकृत्— ‘यद्यपि भगवत्या चतु-सामयिकोऽनाहारक उक्तस्तथाऽप्यत्र नाङ्गीक्रियते, कादात्रिकोऽसौ भूवो येन, बाहुल्यमेवाङ्गीक्रियते, बाहुल्याच्च समयद्वयमेवे’ति । केवल्यानाहारकसूत्र पाठसिद्ध, भगवानाह—गौतम । केवल्यानाहारको द्विविध, प्रज्ञप्तस्तद्यथा भवस्थकेवल्यानाहारक सिद्धकेवल्यानाहारक । सिद्धकेवलानाहारए ण भते ।’ इत्यादि प्रश्न-सूत्र सुगमम् । भगवानाह—गौतम । सादिकापर्यवसितः, सिद्धस्य साद्यपर्यवसिततयाऽनाहारकत्वस्यापि तद्विशिष्टस्य तथाभावात् । ‘भवत्यकेवलि-अनाहारए ण भते ।’ इत्यादि प्रश्न-सूत्र सुगमम्, भगवानाह—गौतम । भवस्थकेवल्यानाहारको द्विविध प्रज्ञप्त —सयोगिभवस्थकेवल्यानाहारको-ज्योगिभवस्थकेवल्यानाहारकश्च, तत्रायोगिभवस्थकेवल्यानाहारकप्रश्नसूत्र

सुगम, भगवानाह — गौतम ! जघन्येनाप्यन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तम्, अयोगित्वं नाम हि शैलेश्यवस्था तस्या नियमादनाहारकं औदारिकादि-
वाययोगाभावात्, शैलेश्यवस्था च जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्तं,
नवर जघन्यपदादुत्कृष्टमधिकमवसेयम्, अन्यथोभयपदोपन्यासायोगात् ।
'सजोगिभवत्थकेवलिअणाहारए ण भते !' इत्यादि प्रश्नसूत्र सुगम,
भगवानाह—गौतम ! अजघन्योत्कर्षेण त्रयं समया, ते चाष्टसामयिक-
केवलिसमुद्घातावस्थाया तृतीयचतुर्थपञ्जरूपाः तेषु केवलकार्मणकाय-
योगभावात् उक्तञ्च —

कार्मणशरीरयोगी चतुर्थके पञ्चके तृतीये च ।

समयत्रयेऽपि तस्माद्भवत्यनाहारको नियमात् ॥१॥

साम्प्रतमन्तरं चिन्तयन्नाह—छउमत्थाहारयस्स ण भते !' इत्यादि ।
छद्मस्थाहारकस्य भदन्त ! अन्तरं कालतः कियच्चिरं भवति? भगवानाह—
गौतम ! जघन्येनैकं समयमुत्कर्षतो द्वौ समयौ, यावानेव हि कालो जघन्यत
उत्कर्षतश्च छद्मस्थानाहारकस्य तावानाहारकस्यान्तरकालः, स च
कालो जघन्येनैकं समयं, उत्कर्षतो बाहुल्यमङ्गीकृत्य व्यवहियमाणाया
त्रिसामयिक्या विग्रहगतौ द्वौ समयवित्याहारकस्याप्यन्तरं तावदिति ।
केवल्याहारकप्रश्नसूत्रं सुगमम्, भगवानाह—गौतम ! अजघन्योत्कर्षेण
त्रयं समया, केवल्याहारको हि सजोगिभवत्थकेवली, तस्य चानाहार-
कत्वं त्रीनेव समयान् यथोक्तं प्रागित्यन्तरं केवल्याहारकस्य तावदिति ।
सम्प्रत्यनाहारकस्यान्तरं चिन्तयिषु प्रथमतश्छद्मस्थानाहारकस्याह—
'छउमत्थाणाहारयस्स ण भते !' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम्,
भगवानाह—गौतम ! जघन्येन क्षुल्लकभवग्रहणं द्विसमयोऽन्तर्मुहूर्त्त-
च्येयं कालं यावदङ्गुलस्यासङ्ख्येयो भागः, यावानेव हि छद्मस्थाहार-
कस्य कालस्तावानैव छद्मस्थानाहारकस्यान्तरं, छद्मस्थाहारकस्य च
जघन्यत कालोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽसङ्ख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः
कालतः, क्षेत्रतोऽङ्गुलस्यासङ्ख्येयो भागः, एतावन्तं कालं सततमवि-

ग्रहेणोत्पादसम्भवात्, ततश्छद्मस्थानाहारकस्य जघन्यत उत्कर्षतश्चैताव-
दन्नरमिति । अथ स्थाने २ क्षुल्लकभवग्रहणमित्युक्तं तत्र क्षुल्लकभव-
ग्रहणमिति क शब्दार्थ ? उच्यते, क्षुल्ल लघुस्तोकमित्येकोऽर्थ, क्षुल्लमेव
क्षुल्लकम्—एकायुष्कसवेदनकालो भवस्तस्य ग्रहण—सबन्धन भवग्रहण,
क्षुल्लक च तद् भवग्रहण च क्षुल्लकभवग्रहण, तच्चावलिकातश्चिन्त्यमान
षट्पञ्चाशदधिकमावलिकाशतद्वयम्, अथकस्मिन् ग्रानप्राणे कियन्ति
क्षुल्लकभवग्रहणानि भवन्ति ? उच्यते—किञ्चित्समधिकानि सप्तदश ।
कथमिति चेदुच्यते—इह मुहूर्त्तमध्ये सर्वसङ्ख्येया पञ्चषष्टि सहस्राणि
पञ्चशतानि षट्त्रिंशानि क्षुल्लकभवग्रहणाना भवन्ति, यत उवत चूर्णो-
पन्नट्टिसहस्साइ पचेव सया हवति छत्तोसा ।

खुड्डागभवग्गहणा हवति अतोमुहुत्तमि ॥१॥

ग्रानप्राणाश्च मुहूर्त्ते त्रीणि सहस्राणि सप्तशतानि त्रिसप्तत्यधिकानि,
उक्तञ्च— तिन्नि सहस्सा सत्त य सयाइ तेवत्तरि च ऊसासा ।

एस मुहुत्तो भणिओ सव्वेहि अणतनाणोहि ॥१॥

ततोऽत्र त्रैराशिकमर्भावतार यदि त्रिसप्तत्यधिकसप्तशतोत्तरैस्त्रिभि
सहस्रैश्छ्वासाना पञ्चषष्टि सहस्राणि पञ्चशतानि षट्त्रिंशानि क्षुल्लक-
भवग्रहणाना भवन्ति तत एकेनोच्छ्वासेन किं लभामहे? राशित्रयस्थापना-
३७७३।६५५३६।१। अत्रान्त्यराशिना एककलक्षणं मध्यराशेर्गुणनाज्जात
स तावानेव, 'एकेन गुणित तदेव भवती'ति न्यायात्, तत आद्येन राशिना
भागहरण, लब्धा. सप्तदश क्षुल्लकभवा शेषास्त्वशास्तिष्ठन्ति, तत्र
त्रयोदश शतानि पञ्चनवत्यधिकानि, उक्तञ्च—

सत्तरस भवग्गहणा खुड्डाण भवति आणुपाणमि ।

तेरस चेव सयाइ पचाणइ चेव असाण ॥१॥

अथैतावद्भिरशै कियत्य आबलिका लभ्यन्ते ? उच्यते,
समधिकचतुर्नवति । तथाहि—षट्पञ्चाशदधिकेन शतद्वयेनावलिकाना
त्रयोदश शतानि पञ्चनव तानि गुण्यन्ते, जातानि त्रीणि लक्षाणि
सप्तपञ्चाशत्सहस्राणि शतमेक विशत्यधिक ३५७१२०, छेदराशिः स

एव ३७७३, लब्धा चतुर्नवतिरावलिका. शेषास्त्वशा अवलिकायास्ति-
 ष्ठन्ति चतुर्विंशति शतानि अष्टपञ्चाशानि, छेद स एव २४५८/३७७३,
 एव यदा एकस्मिन्नानप्राणे आवलिका सङ्ख्यातुमिश्यन्ते तदा सप्तदश
 द्वाभ्या षट्पञ्चाशदधिकाभ्या शताभ्या गुण्यन्ते, गुणयित्वा
 चोपरितनाश्चतुर्नवतिरावलिका प्रक्षिप्यन्ते, तत आवलिकाना चतुश्चत्वारि-
 शत् शतानि—षट् चत्वारिंशानि भवन्ति, उक्तञ्च—

एकको उ आणुपाणू, चोयालीस सया उ छायाला ।

आर्वालयपमाणेण अणतनाणीहि निद्विट्ठो ॥१॥

यदि पुनर्मुहूर्त्ते आवलिका सङ्ख्यातुमिष्यन्ते तत एतान्येव
 चतुश्चत्वारिंशच्छतानि त्रिसप्तत्यधिकानि भवन्तीति सप्तत्रिंच्छ-
 शतैस्त्रिसप्तत्यधिकैर्गुण्यन्ते, जाता एका कोटी सप्तषष्टिः शतसह-
 स्राणि चतुसप्तति सहस्राणि सप्तशतानि अष्टापञ्चाशदधिकानि
 १६७७४७५८, येऽपि चावलिकाया अशाश्चतुर्विंशतिशतानि अष्टपञ्चा-
 शदधिकानि २४५८ तेऽपि मुहूर्त्तगतोच्छ्वासराशिना ३७७३ गुण्यन्ते,
 अस्यैव छेदस्य ते अशा इत्यावलिकानयनार्थं तेनैव भागो ह्यियते, लब्धा-
 स्तावत्य एवावलिकाश्चतुर्विंशतिशतान्यष्टापञ्चाशानि २४५८, तानि
 मूलराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जाता मूलराशिरका कोटि सप्तषष्टिर्लक्षा.
 सप्तसप्तति सहस्राणि द्वे शते षोडशोत्तरे, एतावत्य आवलिका मुहूर्त्ते
 भवन्ति, यदि वा मुहूर्त्तगताना क्षुल्लकभवग्रहणाना पञ्चषष्टि-सहस्राणि
 पञ्चशतानि षट्त्रिंशानि एकभवग्रहणप्रमाणेन षट्पञ्चाशेन शतद्वयेना-
 वलिकाना गुण्यन्ते तथाऽपि तावत्य एवावलिका भवन्ति, उक्तञ्च—

“एगा कोडी सत्तट्ठि लक्ख सत्तत्तरी सहस्सा य ।

दा य सया सोलहिया आवलियाओ मुहुत्तमि ॥१॥

एव च यदुच्यते ‘सखेज्जाओ आवलियाओ एगे ऊसासनीसासे’
 इत्यादि तदतीव समीचीनमिति कृत प्रसङ्गेन, प्रकृत प्रस्तुतम् । तत्र
 समयोगिभवस्थकेवल्यनाहारकस्यान्तरमभिधित्युराह—‘सजोगिभवत्थके-
 वलिअणाहारयस्स ण भते!’ इत्यादि प्रश्नसूत्र सुगमम्, भगवानाह—

गौतम ! जघन्येनाप्यन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षेणाप्यन्तर्मुहूर्त्तं समुद्घातप्रतिपत्तेर-
नन्तरमेवान्तर्मुहूर्त्तेन शैलेशीप्रतिपत्तिभावात् नवर जघन्यपदादुत्कृष्टपद
विशेषाधिकमवसातव्य अन्यथोभयपदोपन्यासायोगात् अयागिभवस्थके-
वल्यानाहारकसूत्रे नास्त्यन्तरम्, अयोग्यवस्थाया सर्वस्याप्यनाहारकत्वात् ।
एव सिद्धस्यापि साद्यपर्यर्वासनस्यानाहारकस्यान्तराभावो भावनीय,
साम्प्रतमेतेषामाहारकानाहारकाणामल्पबहुत्वमाह— एएसि ण भते ।'
इत्यादि प्रश्नसूत्र सुगमम्, भगवानाह—गौतम! सर्वस्तोका अनाहारका,
सिद्धविग्रहगत्यापन्नसमुद्घात-गतसयोगिकेवल्ययोगिकेवलिनामेवानाहारक-
त्वात् तेभ्य आहारका असङ्ख्येयगुणा, अथ सिद्धेभ्योऽनन्तगुणा वनस्पति-
जीवास्ते च प्राय आहारका इत्यनन्तगुणा कथं न भवति ? उच्यते, इह
प्रतिनिगोदमसङ्ख्येयो भाग. प्रतिसमय सदा विग्रहगत्यापन्नालभ्यते,
अनाहारका. —

*विग्रहगइमावन्ना केवलिणो समुहया अजोगी य ।

सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारगा जीवा ॥१॥

इतिवचनात् ततोऽसङ्ख्येयगुणा एवाहारका घटन्ते नानन्तगुणा
इति । प्रकारान्तरेण भूयो द्वैविध्यमाह ।

हिन्दी—भावार्थ

अथवा सर्वजीव दो प्रकार से कहे गए हैं । जैसेकि—
आहारक और अनाहारक ।

अनगार गौतम बोले—भदन्त ! जीव आहारक कब तक रह
सकते हैं ?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम ! आहारक जीव दो
प्रकार के होते हैं । जैसेकि—छद्मस्थ—आहारक, और
केवलिआहारक ।

अनागार-गौतम बोले—भदन्त ! छद्मस्थ जीव आहारक

* विग्रहगत्यापन्ना' केवलिन. समुद्धता अयोगिनश्च ।

सिद्धाश्चानाहाराः शेषा आहारका जीवा ॥१॥

कब तक रहता है ?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम ! जघन्य क्षुल्लक-भ्रमग्रहण मे दो समय कम काल तक । क्षुल्लक भ्रमग्रहण का अर्थ होता है—२५६ आर्वालिकाओं का एक भव करना । उत्कृष्ट काल यावत् असख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल तक । क्षेत्र से अगुल के असख्यातवे भाग तक । अर्थात् अगुल के असख्यातमे भाग मे जतने आकाश प्रदेश है उनमे से एक-एक आकाश-प्रदेश को एक-एक समय मे निकालने पर, जि ने समय मे सारे आकाश प्रदेश निकाले जासके उतने उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल तक छद्मस्थ जीव आहारक रहते है ।

अनगार गौतम बोले—भदन्त ! केवली भगवान आहारक कब तक रहते है ?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट कुछ कम करोड पूर्व काल तक ।

अनगार गौतम बोले—भदन्त ! जीव अनाहारक कब तक रहते है ?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम ! अनाहारक जीव दो प्रकार के होते है । जैसेकि—छद्मस्थ अनाहारक और केवली अनाहारक । छद्मस्थ अनाहारक जघन्य एक समय तक, और उत्कृष्ट दो समय तक । केवली अनाहारक दो प्रकार के कहे गये है । जैसेकि-सिद्ध केवली अनाहारक, और भवस्थ केवली अनाहारक ।

अनगार गौतम बोले—भदन्त ! सिद्धकेवली जीव अनाहारक कब तक रहते है ?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम ! सादि-अनन्त काल तक ।

अनगार गौतम बोले—भदन्त ! भवस्थ केवली जीव अनाहारक कितने प्रकार के होते हैं ?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम ! भवस्थकेवली अनाहारक जीव दो प्रकार के होते हैं । जसेक-सयोगी भवस्थ केवली अनाहारक और अयोगी भवस्थ केवली अनाहारक ।

अनगार गौतम बोले—भदन्त ! सयोगी भवस्थ केवली जीव अनाहारक कब तक रहते हैं ?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम ! सयोगी भवस्थ केवली जीव जघन्य और उत्कृष्ट तीन समय तक अनाहारक रहते हैं । और अयोगीभवस्थ केवली जीव जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट भी अन्तर्मुहूर्त अनाहारक रहते हैं ।

अनगार गौतम बोले—भदन्त ! छद्मस्थ आहारक जीव का अन्तरकाल कितना होता है ?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम ! जघन्य एक समय और उत्कृष्ट दो समय तक । केवलो आहारक जीव का अन्तरकाल जघन्य और उत्कृष्ट तीन समय तक होता है । छद्मस्थ अनाहारक जीव का अन्तरकाल-जघन्य दो समय कम क्षुल्लक-भवग्रहण तक और उत्कृष्ट असख्यात काल तक होता है, यावत् क्षेत्र की अपेक्षा अगुल का असख्यातवा भाग । सिद्ध-केवली अनाहारक जीव सादि-अनन्त होते हैं, इसलिए उनका अन्तर नहीं होता है । सयोगीभवस्थ केवली अनाहारक जीव का अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट भी अन्तर्मुहूर्त ही होता है । अयोगी भवस्थ केवली अनाहारक जीव का अन्तर नहीं होता है ।

अनागार गौतम बोले—भदन्त ! इन आहारक और अनाहारक जीवों में कौन अल्प है और कौन अधिक है ?

भगवान् महावीर ने कहा—गौतम । सब से कम अनाहारक जीव होते हैं और आहारक जीव इन से असंख्यात गुणा अधिक होते हैं ।

मूल पाठ

* अहवा दुविहा सव्वजीवा पणत्ता, तजहा—
सभासगा अभासगा य ।

सभासए ण भते । सभासए त्ति कालओ केवचिर
होति ?

गोयमा । जहण्णेण एक्क समय उक्कोसेण
अतोमुहुत्ता ।

* अथवा द्विविधा सर्वजीवा प्रज्ञप्ता । तद्यथा—सभाषका, अभाषकाश्च । सभाषको भदन्त । 'सभाषक' इति कालत कियच्चिर भवति ? गौतम । जघन्येन एक समयम्, उत्कर्षेण अन्तर्मुहूर्तम् । अभाषको भदन्त । ० ? गौतम । अभाषको द्विविध प्रज्ञप्त । सादिको वा अपर्यवसित, सादिको वा सपर्यवसित । तत्र य स सादिक सपर्यवसित, स जघन्येन अन्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षेण अनन्त कालम्, अनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यो वनस्पतिकाल । भाषकस्य भदन्त । कियत्कालमन्तर भवति ? जघन्येन अन्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षेण अनन्त काल वनस्पतिकालः । अभाषकस्य सादिकस्य अपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरम् । सादिक-सपर्यवसितस्य जघन्येन एक समयम्, उत्कर्षेण अन्तर्मुहूर्तम् । अल्पबहुत्वम्-सर्वस्तोका भाषका, अभाषका अनन्तगुणा ।

अथवा द्विविधा सर्वजीवाः । सशरीरिणश्च, अशरीरिणश्च । अशरीरिणो यथा सिद्धाः, स्तोका अशरीरिणः । सशरीरिण अनन्तगुणाः ।

अभासए ण भते ! ०? गोयमा ! , अभासए दुविहे पणत्ते—साइए वा अपज्जवसिए, सातीए वा सपज्जवसिए, तत्थ ण जे से साइए सपज्जवसिए से जह० अतो० उक्को० अणत काल, अणता उस्सप्पिणी-ओसप्पिणीओ वसस्सतिकालो ।

भासगस्स ण भते ! केवतिकाल अतर होति ?

जह० अतो० उक्को० अतो० अणत काल वणस्स-तिकालो । अभासग० सातीयस्स अपज्जवसियस्स णत्थि अतर, सातीयसपज्जवसियस्स जहण्णेण एकक समय उक्को० अतो० । अप्पाबहु० सब्बत्थोवा भासगा, अभासगा अणतगुणा ।

अहवा दुविहा सब्बजीवा, ससरीरी य असरीरी य । असरीरी जहा सिद्धा, थोवा असरीरी, ससरीरी अणतगुणा ।

संस्कृत—व्याख्या

‘अहवे’ त्यादि अथवा द्विविधा सर्वजीवा प्रज्ञप्तास्ताद्यथा भाषकाश्च अभाषकाश्च, भाषमाणा भाषका इतरेऽभाषकाः । सम्प्रति कायस्थिति-माह—‘सभासए ण भते !’—इत्यादि प्रश्नसूत्र सुगमम् ।

भगवानाह—गौतम ! जघन्येनैक समय भाषाद्रव्यग्रहणसमय एव मरणतोऽन्यतो वा कुतश्चित्कारणात्तद्व्यापारस्याप्युपरमात्, उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्त्तं, तावन्त काल निरन्तर भाषाद्रव्यग्रहणनिसर्गसम्भवात् । तत उद्ध्वं जीवस्वाभाव्यान्नियमत एवोपरमति । अभाषकप्रश्नसूत्र सुगमम्, भगवानाह—गौतम ! अभाषका द्विविध प्रज्ञप्तस्तद्यथा—सादिको वा

अपर्यवसित सिद्ध , सादिको वा सपर्यवसित स च पृथिव्यादि, तत्र योऽसौ सादि सपर्यवसित स जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, भाषणादुपरम्यान्तर्मुहूर्त्तं कस्यापि भूयोऽपि भाषणप्रवृत्ते, पृथिव्यादिभवस्य वा जघन्यत एतावन्मात्रकालत्वात्, उत्कर्षतो वनस्पतिकाल, स चानन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्य कालत, क्षेत्रताऽनन्ता लोका असङ्ख्येया. पुद्गलपरावर्त्ताः ते च पुद्गलपरावर्त्ता श्रवणिकाया असङ्ख्येयो भाग. एतावन्त काल वनस्पतिष्वभाषकत्वात् । साम्प्रतमन्तर चिचिन्तयिषुराह—‘भासगस्स ण भते !’ इत्यादि प्रश्नसूत्र सुगमम्, भगवानाह—गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो वनस्पतिकाल, अभाषककालस्य भाषकान्तरत्वात् । अभाषकसूत्रे साद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात्, सादिसपर्यवसितस्य जघन्येनैक समयमुत्कर्षतोऽतर्मुहूर्त्तं, भाषककालस्याभाषकान्तरत्वात्, तस्य च जघन्यत उत्कर्षतश्चैतवन्मात्रत्वात्, अल्पबहुत्वसूत्र प्रतीतम् । ‘अह्वे’ त्यादि सशरीरा.—असिद्धा अशरीरा.—सिद्धा, ततः सर्वाण्यपि सशरीराशरीरसूत्राणि सिद्धासिद्धसूत्राणीव भावनीयानि ।

हिन्दी—भावार्थ

अथवा सर्वजीव दो प्रकार के होते हैं । जैसेकि-सभाषक और अभाषक ।

अनगार गौतम बोले—भदन्त ! सभाषक जीव सभाषकत्व रूप से कब तक रहते हैं ?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम ! जघन्य एक समय, उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त तक ।

अनगार गौतम बोले—भदन्त ! अभाषक जीव अभाषकत्व रूप से कब तक रहते हैं ?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम ! अभाषक जीव दो प्रकार के कहे गये हैं—सादि-अनन्त, और सादि-सान्त । इनमें

जो सादि-सान्त जीव है, उनका अवस्थितिकाल जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट अनन्तकाल तक । अर्थात् अनन्त उत्सर्पिणि-अवसर्पिणियों तक । जिस प्रकार वनस्पतिकाल अनन्त होता है, वैसे ही इन जीवों का भी अवस्थितिकाल अनन्त समझना चाहिए ।

अनगार गौतम बोले—भदन्त ! भाषक जीवों का अन्तर कितने काल का होता है ?

भगवान् महावीर ने कहा—गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट वनस्पतिकाल, अर्थात् अनन्तकाल तक होता है । अभाषक सादि-अनन्त जीवों का अन्तरकाल नहीं होता है । सादि-सान्त जीवों का अन्तरकाल जघन्य एक समय, उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त होता है । इन का अल्पबहुत्व इस प्रकार समझना चाहिए—

सब से कम भाषक जीव होते हैं । अभाषक जीव इन से अनन्त गुणा अधिक होते हैं ।

अथवा सर्वजीव दो प्रकार के कहे गये हैं । जैसेकि—सशरीरी और अशरीरी । अशरीरी जीवों को सिद्धों के समान समझना चाहिए । अशरीरी कम हैं, और सशरीरी इन से अनन्तगुणा अधिक होते हैं ।

मूल पाठ

अहवा दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता तंजहा—चरिमा चैव, अचरिमा चैव ।

अथवा द्विविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा—चरमाश्चैव अचर-माश्चैव । चरमो भदन्त ! चरम इति कालतः कियच्चिर भवति ?

चरिमे ण भते । चरिमे त्ति कालतो केवचिर
हाति ?

गोयमा । चरिमे अणादीए सपज्जवसिए । अचरिमे
दुविहे—अणातीए वा अपज्जवसिए, सातीए अपज्जवसिते,
दोण्ह पि णत्थि अतर, अप्पाबहु—सव्वत्थोवा अचरिमा,
चरिमा अणतगुणा । सेत्त दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता ।

संस्कृत—व्याख्या

‘अह्वे’ त्यादि, चरमाः—चरमभववन्तो भव्यविशेषा ये सेत्स्यन्ति,
तद्विपरीता अचरमाः—अभव्या. सिद्धाश्च । कायस्थितिसूत्रे चरमोऽना-
दिसपर्यवसितोऽन्यथा चरमत्वायोगात् । अचरमसूत्रेऽचरमो द्विविधः
प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अनादिको वाऽपर्यवसितः, सादिको वाऽपर्यवसितः,
तत्रानाद्यपर्यवसितोऽभव्यः, साद्यपर्यवसितः सिद्धः । साम्प्रतमन्तरमाह—
‘चरिमस्स ण भते !’ इत्यादि प्रश्नसूत्र सुगम, भगवानाह—गौतम !
अनादिकस्य सपर्यवसितस्य नास्त्यन्तर, चरमत्वापगमे सति पुनश्चरम-
त्वायोगात्, अचरमस्याप्यनाद्यपर्यवसितस्य साद्यपर्यवसितस्य वा
नास्त्यन्तरमविद्यमानचरमत्वात् । अल्पबहुत्वे—सर्वस्तोका अचरमाः,
अभव्याना सिद्धानामेव चाचरमत्वात्, चरमा अनन्तगुणाः, सामान्य-
भव्यापेक्षमेतत्, अन्यथाऽनन्तगुणत्वायोगात्, आह च मूलटीकाकारः—
चरमा अनन्तगुणाः, सामान्यभव्यापेक्षमेतदिति भावनीय, दुर्लक्ष्यः

गौतम । चरमो अनादिकः, सपर्यवसितः । अचरमो द्विविधः—अनादिको
वा अपर्यवसित, सादिकोऽपर्यवसितः । द्वयोरपि नास्त्यन्तरम् । अल्प-
बहुत्वम्—सर्वस्तोकाः अचरमाः, चरमा अनन्तगुणाः । समाप्त द्विविधाः
सर्वजीवाः प्रज्ञप्ताः ।

(१०४)

सूत्राणा विषयविभाग ” इति । सम्प्रत्युपसहारमाह—‘सेत्त दुविहा’
ते एते द्विविधा सर्वजीवा , अत्र क्वचिद्विविधवक्तव्यतासग्रहणिगाथा—
सिद्धसद्दियकाए जोए वेए कसायलेसा य ।

नाणुवओगाहारा भाससरीरी य चरमो य ॥१॥

(वृत्तिकारो मलयगिरि)

हिन्दी—भावार्थ

अथवा सर्वजीव दो प्रकार के कहे गए हैं । जैसेकि—चरम
और अचरम ।

अनगर गौतम बोले—भदन्त ! चरम जीव चरमत्वरूप
से कब तक रहते हैं ?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम ! चरम जीव अनादि-
सान्त होते हैं । अचरम जीव दो प्रकार के होते हैं, जैसेकि—
अनादि-अनन्त और सादि-अनन्त । दोनो प्रकार के जीवो
का अन्तरकाल नहीं होता है । इन जीवो का अल्पबहुत्व इस
प्रकार है—

सबसे कम अचरम जीव होते हैं, और चरम जीव इन से
अनन्त गुणा अधिक माने गए हैं ।

इस प्रकार सर्वजीवों की व्याख्या करने वाला प्रकरण
समाप्त होता है ।



परिशिष्ट न० २

यजुर्वेद मे परमात्मा की अनन्तता—

जैनदर्शन का विश्वास है कि कर्मों का आत्यन्तिक नाश कर लेने पर जीव मुक्ति को प्राप्त कर लेता है, परमात्मा बन जाता है, और फिर सदा के लिए मुक्ति मे ही वह विराजमान रहता है, उससे कभी वापिस नही आता है। दूसरे शब्दो मे, जैनदर्शन की दृष्टि से परमात्मा सादि-अनन्त है। परमात्म-स्वरूप को जीव ने प्राप्त किया है, इस लिए वह सादि है, और परमात्मस्वरूप उस का सदा के लिए बना रहेगा, उस से कभी वह च्युत नही होगा, इसलिए वह अनन्त है। परमात्मा की इस अनन्तता को लेकर कुछ लोग जनदर्शन पर कई तरह के ऊलजलूल आक्षेप करते है। वे कहते है कि जैनदर्शन का परमात्मा कैदी है, मुक्ति की कैद मे वह सदा के लिए पडा रहता है, इसलिये वह बद्ध है, उसे स्वतन्त्र नही कहा जा सकता। लोगो का ऐसा कहना, समझना सर्वथा भ्रान्ति-पूर्ण है, क्योकि परमात्मा का अपने रूप मे स्थिर रहना, निजस्वभाव मे रमण करना, उसकी बद्धता या परतत्रता का कारण नही कहा जा सकता। बद्धता या परतत्रता का कारण परवशता होती है। स्वभाव-स्थिरता को कभी बद्धता या परतत्रता का रूप नही दिया जा सकता। यदि केवल स्वभाव-स्थिरता को ही बद्धता का प्रतीक मान लिया जायगा, फिर तो ससार का कोई भी तत्त्व स्वतन्त्र नही कहा जा सकता। क्योकि वस्तु का अपना कोई न

कोई स्वभाव अवश्य होता है, और उस में वह अवस्थित भी रहता है। वैदिकदर्शनसम्मत परमात्मा को ही ले लें, वैदिकदर्शन के विश्वासानुसार वह जगत का निर्माण करता है। तो “जगत का निर्माण करना, परमात्मा का स्वभाव बन जाता है। वैदिकदर्शन के अनुसार जगत का निर्माण परमात्मा द्वारा ही होता है, इस लिए अपने स्वभाव में स्थिर होने से उस जगत्कर्ता परमात्मा को भी बद्ध या परतत्र मानना पड़ेगा। पर जगत्कर्ता परमात्मा की बद्धता वैदिकदर्शन स्वयं स्वीकार नहीं करता है। वस्तुस्थिति भी यही है। स्वभाव-स्थिर किसी एक तत्त्व पर बद्ध या परतत्र शब्द का प्रयोग नहीं हुआ करता। अतः सदा के लिए मुक्ति में विराजमान रहने के कारण जैनदर्शन के परमात्मा को भी बद्ध या परतत्र नहीं कहना चाहिए और नाही ऐसा समझना चाहिए।

इसके अलावा, वैदिक ग्रन्थों में भी परमात्मा की अनन्तता को प्रकारान्तर से स्वीकार किया गया है। यजुर्वेद में ऐसे अनेकों मंत्र उपलब्ध होते हैं जो स्पष्ट रूप से परमात्मा की अनन्तता को अभिव्यक्त कर रहे हैं। पाठकों की जानकारी के लिए हम यजुर्वेद के दो मंत्रों को यहाँ उद्धृत करते हैं। वे मंत्र ये हैं—

* एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः ।

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृत दिवि ॥

—यजुर्वेद अ० ३१, मंत्र ३

* वैदिक यत्रालय, अजमेर से मुद्रित, तृतीयावृत्ति
विक्रम संवत् १९६९, पृष्ठ १०४२

इस का भावार्थ करते हुए श्री दयानन्द सरस्वती लिखते हैं कि यह सब सूर्य, चन्द्र आदि लोक-लोकान्तर चराचर जितना जगत है, वह सब चित्र-विचित्र रचना के अनुमान से परमेश्वर के महत्त्व को सिद्ध कर उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय रूप से तीनों काल में घटने बढने से भी परमेश्वर के एक-एक चतुर्थांश में ही रहता है, किन्तु इस ईश्वर के चौथे अंश को भी अवधि को नहीं पाता और इस ईश्वर के सामर्थ्य के तीन अंश अपने अविनाशी मोक्षस्वरूप में सदैव रहते हैं। इस कथन से उस ईश्वर का अनन्तपन नहीं बिगड़ता किन्तु जगत् की अपेक्षा उस का महत्त्व और जगत् का न्यूनत्व जाना जाता है।

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुष पादोऽस्येहा भवत्पुन ।

ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि ॥

— यजुर्वेद, अ० ३१ मंत्र ४

श्री दयानन्द सरस्वती ने इस मंत्र का भावार्थ इस प्रकार किया है—

यह पूर्वोक्त परमेश्वर कार्यजगत् से पृथक् तीन अंश से प्रकाशित हुआ एक अंश अपने सामर्थ्य से सब जगत को बार-बार उत्पन्न करता है, पीछे उस चराचर जगत् में व्याप्त हो कर स्थित है। (पृष्ठ १०४३)

यजुर्वेद के इन मंत्रों में कहा गया है कि परमात्मा के तीन अंश अपने अविनाशी मोक्षस्वरूप में सदैव रहते हैं। यजुर्वेद का यह वर्णन जैनदर्शनसम्मत परमात्मा की अनन्तता के साथ स्पष्ट रूप से मेल खा रहा है। यह सत्य है कि जैनदर्शन यजुर्वेद की भाँति परमात्मा के चार अंश नहीं मानता है, और नाही वह परमात्मा का जगत्कर्तृत्व स्वीकार करता है।

किन्तु यजुर्वेद के मन्त्रों द्वारा प्रस्तुत में हम इतना ही व्यक्त करना चाहते हैं कि यजुर्वेद में भी परमात्मा को अनन्त माना गया है और यजुर्वेदसम्मत परमात्मा के तीन अश अविनाशी मोक्ष में सदा रहते हैं, वे कभी वहा से च्युत नहीं हो पाते। जब यजुर्वेदसम्मत परमात्मा की अनन्तता उसे बद्ध नहीं होने देती, उसे स्वतंत्र बनाए रखती है, तो जैनदर्शन सम्मत परमात्मा की अनन्तता उसे बद्ध या परतंत्र या कैदी कैसे बना सकती है ? उत्तर स्पष्ट है—कभी नहीं।

गीता में अकर्तृत्ववाद—

जैनदर्शन परमात्मा को जगत का निर्माता, भाग्यविधाता, तथा कर्मफलप्रदाता स्वीकार नहीं करता है। जैनदर्शन की यह मान्यता सर्वथा युक्तियुक्त और तर्कसंगत है। इसकी छाया हमें भगवद्गीता में भी मिलती है। गीता के पाचवें अध्याय का पाचवाँ और छठा श्लोक देखिए—

न कर्तृत्व न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभु ।

न कर्मफलसयोग, स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥

अर्थात्—ईश्वर जगत का निर्माता नहीं है, जीवों के कर्मों की रचना नहीं करता है और नाहीं वह कर्मफल का प्रदाता है। प्रकृति के स्वभाव से ही यह सब बातें हो रही हैं।

नादत्ते कस्यचित्पाप, न चैव सुकृत विभुः ।

अज्ञानेनावृत ज्ञान, तेन मुह्यन्ति जन्तव ॥

अर्थात्—ईश्वर किसी को पाप और पुण्य नहीं लगाता है, ज्ञान अज्ञान से आवृत हो रहा है, इसी कारण से जीव मोह को प्राप्त हो रहे हैं।